# जैन भारती

अप्रैल 2013 • वर्ष 61 • अंक 4 • वार्षिक रु. 200.00

स्वयं सत्य खोजें

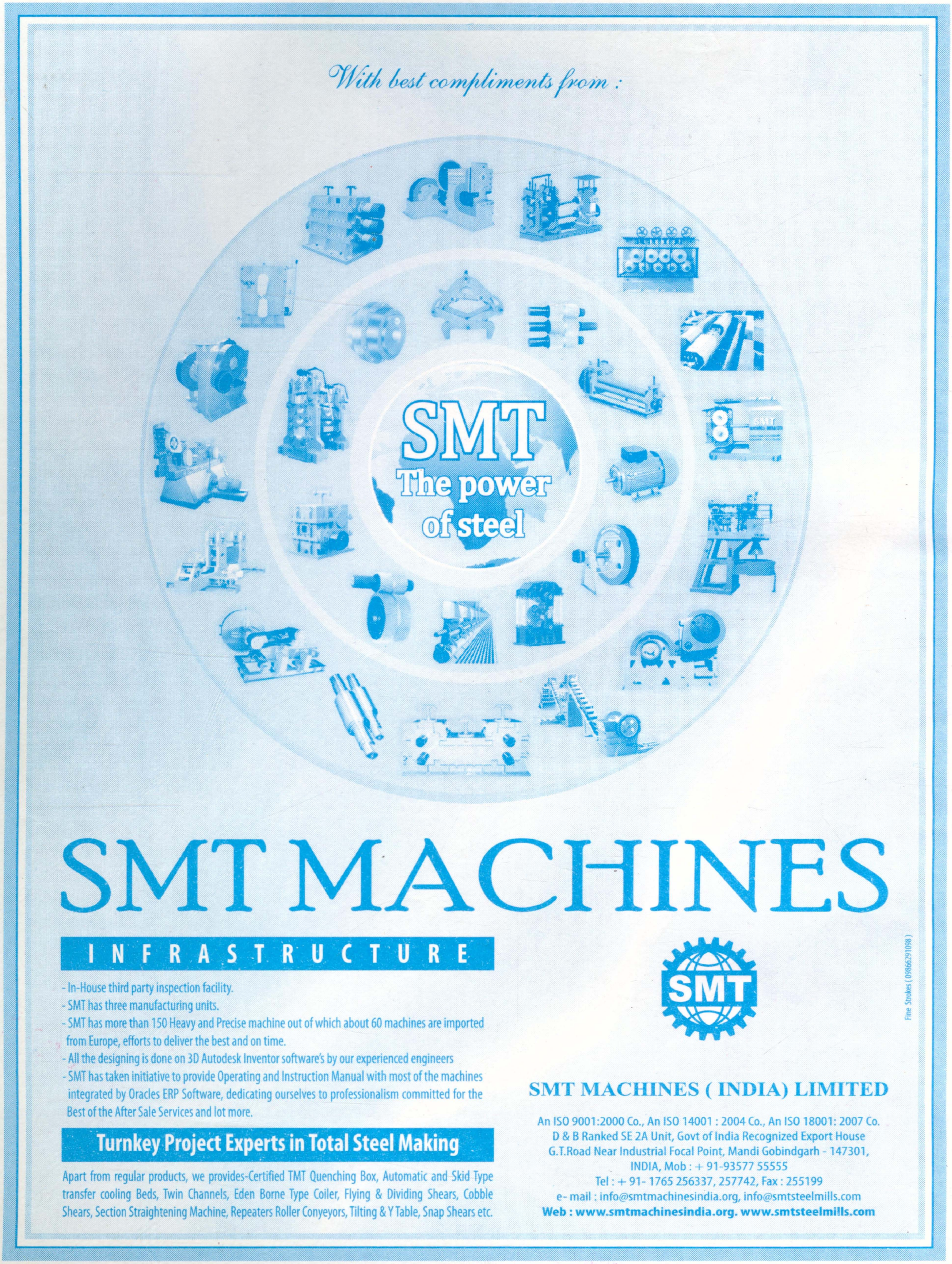
With best compliments from :
SMT
The power of steel
SMT MACHINES
INFRASTRUCTURE
- In-House third party inspection facility.
- SMT has three manufacturing units.
- SMT has more than 150 Heavy and Precise machine out of which about 60 machines are imported from Europe, efforts to deliver the best and on time.
- All the designing is done on 3D Autodesk Inventor software's by our experienced engineers
- SMT has taken initiative to provide Operating and Instruction Manual with most of the machines integrated by Oracles ERP Software, dedicating ourselves to professionalism committed for the Best of the After Sale Services and lot more.
Turnkey Project Experts in Total Steel Making
Apart from regular products, we provides-Certified TMT Quenching Box, Automatic and Skid Type transfer cooling Beds, Twin Channels, Eden Borne Type Coiler, Flying & Dividing Shears, Cobble Shears, Section Straightening Machine, Repeaters Roller Conyeyors, Tilting & Y Table, Snap Shears etc.
SMT
SMT MACHINES ( INDIA) LIMITED
An ISO 9001:2000 Co., An ISO 14001 : 2004 Co., An ISO 18001: 2007 Co.
D & B Ranked SE 2A Unit, Govt of India Recognized Export House
G.T.Road Near Industrial Focal Point, Mandi Gobindgarh - 147301,
INDIA, Mob : + 91-93577 55555
Tel : + 91- 1765 256337, 257742, Fax : 255199
e- mail : info@smtmachinesindia.org, info@smtsteelmills.com
Web : www.smtmachinesindia.org. www.smtsteelmills.com
Fine Strokes (09866291098)

# जैन भारती

वर्ष 61 • अप्रैल, 2013 • अंक 4

सम्पादक
**डॉ. शान्ता जैन**

आवरण
गौरीशंकर

## अनुक्रम

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | सम्पादकीय | | 5 |
| 2. | महावीर के सपनों का समाज | —आचार्य तुलसी | 7 |
| 3. | महावीर को पूजें या समझें? | —आचार्य महाप्रज्ञ | 10 |
| 4. | स्थितप्रज्ञता की पहचान | —आचार्य महाश्रमण | 13 |
| 5. | भगवान महावीर के संदेश और हमारा कर्तव्य | —मुनि राकेश कुमार | 15 |
| 6. | भगवान महावीर वीतराग व्यक्तित्व | —डॉ. हुक्मचन्द भारिल्ल | 18 |
| 7. | समय का मूल्य | —प्रोफेसर जमनालाल बायती | 21 |
| 8. | स्वपुरुषार्थ से आत्मशुद्धि का प्रयोग : प्रतिक्रमण | —साध्वी स्वर्णरेखा | 24 |
| 9. | अंतस् में छिपे महावीर की खोज | —मुनि पीयूष कुमार | 27 |
| 10. | माया महाठगिनी हम जानी | —नीरज जैन | 29 |
| 11. | अणुयुग में अहिंसा की अपरिहार्यता | —वंदना कुंडलिया | 34 |
| 12. | जीवन की राह चुनो | | 37 |
| 13. | अहिंसा का महत्त्वपूर्ण अंग - स्याद्वाद | —भूपेंद्र मूथा | 39 |
| 14. | पुकार | —पुष्पलता शर्मा | 41 |
| 15. | संगठन के आधारभूत सूत्र | —साध्वी जयश्री | 43 |
| 16. | भगवान महावीर का अपरिग्रह दर्शन | —प्रोफेसर सुमेरचंद जैन | 46 |
| 17. | धर्म का इतिहास | —साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा | 48 |
| 18. | अनेकान्त प्रिय आचार्य श्री भिक्षु | —मुनि मदनकुमार | 49 |
| 19. | तेरापंथ शासन का कार्यकारी हस्ताक्षर महासभा | | 52 |
| 20. | महासभा द्वारा मर्यादा महोत्सव पर आयोजित कार्यक्रम | | 55 |

संपादकीय सम्पर्क सूत्र : डॉ. शान्ता जैन, जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, 341306

प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- • त्रैवार्षिक 500/- • दसवर्षीय 1500/- रुपए

# महावीर वंदना

1. हत्थीसु एरावणमाहु णाते, सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा।
पक्खीसु या गरुले, वेणुदेवे, णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते।

2. जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु।
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे।।

3. थणितं व सद्दाण अणुत्तरं उ, चंदे व ताराण महाणुभावे।
गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं, एवं मुणीण अपडिण्णमाहु।।

4. जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे, णागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठं।
खोओदए वा रस वेजयंते तहोवहाणे मुणि वेजयंते।

5. वणेसु य णंदणमाहु सेट्ठं, णाणेण सीलेण य भूतिपण्णे।

6. दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु या अणवज्जं वयंति।
तवेसु वा उत्तम बंभचेरं, लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते।।

7. निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि णाणी।

8. कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्तदोसा।
एत्ताणि चत्ता अरहा महेसी, ण कुव्वई पाव ण कारवेई।।

9. जेगुच्छी निपको भिक्खु, चातुमाय सुसंवतो।
दिट्ठ सुतं च आचिक्खुं, न हि नून किब्बिसी सिया।।

– वंदनाकार सुधर्मा स्वामी

# महावीर बनने की तैयारी करें

प्रश्न उभरता है कि महावीर को तलाशें या महावीर बनने की तैयारी करें? तलाश अर्थशून्य है, क्योंकि महावीर है कहां? विदेह को देह में कैसे तलाशें? कैसे पहचानें? इसलिए आज का सच है कि हम महावीर बनने की तैयारी करें, यह तैयारी ही असलियत में 'प्रभु बनकर के ही हम प्रभु की पूजा कर सकते हैं'—इस संकल्प को सार्थकता दे सकती है।

महावीर को जन्में सैकड़ों वर्ष बीत गए हैं। प्रतिवर्ष उनकी जन्म जयंती मनाते हैं। उनके जीवन दर्शन को, सिद्धांतों को, उपदेशों को सुनते, पढ़ते और समझने की कोशिश करते हैं, पर जब आत्मतुला पर अपना विकास तोलते हैं तो बटखरे कम पड़ जाते हैं। यूं लगता है कि हम वहीं खड़े हैं जहां कल खड़े थे। हमें इस भ्रम को तोड़ना है कि हम बदल नहीं सकते हैं। महावीर ने विश्वास दिया था कि—'एक दिन तुम भी वही बन सकते हो जो आज मैं हूं।

महावीर बनने की तैयारी में हमें भाग्य भरोसे बैठे रहने की सोच बदलनी होगी, क्योंकि भाग्य का निर्माण पुरुषार्थ से होता है और पुरुषार्थ वही कर सकता है जो क्षणजीवी है। अपने लक्ष्य के प्रति जागरूक है। जो कुछ होना चाहता है। एक क्षण भी बिन बतलाए जिसका नहीं बीतता। जो औरों पर नहीं, अपनी क्षमताओं पर विश्वास करता है। जो दृढ़ संकल्पी, मनोबली, दृढ़ निश्चयी और सक्रिय चेतनावाला होता है। ऐसा व्यक्ति अपनी जन्मकुण्डली स्वयं बनाता है। सही दिशा में पराक्रम करो, भाग्य स्वयं बदल जाएगा।

महावीर ने अनेकांत का सिद्धांत दिया ताकि मनुष्य उलझनों के बीच सुलझने का रास्ता खोज सके। संवाद में विवाद न जागने दे। गलत और सही का फर्क समझे। गलतफहमियों से जन्मी वैचारिक विषमता को एक जाजम पर बैठकर समझने और मिटाने का प्रयास करे। बात चाहे घर की हो या पड़ोस की हो या सामाजिक संस्थाओं की हो या राष्ट्र की— परिवेश और परिस्थिति अनुकूल बनाने में निजी स्वार्थों को गौण करना भी साधना का एक बिंदु है। कहीं हम झुकें, कहीं सामने वाला झुके, झुकना ही

सही अर्थों में सामञ्जस्य है। अन्यथा रिश्तों की नाजुकता में एक बार गांठ घुल गई तो फिर खुलनी बहुत कठिन है। इसलिए इस दिशा में पहला कदम उठाना हमारी जीत है।

हम जन्म जयंती पर जैन समाज में पंख फैलाती नई-नई कुरूढ़ियों की चिंता करते हैं। विकृत होती संस्कृति पर हाथ मसल कर बैठ जाने की विवशता महसूस करते हैं। प्रसंग चाहे जन्मदिवस का हो या शादी का, समाज में धन वैभव का प्रदर्शन और अनावश्यक अपव्यय की जो प्रथा तीव्रता से जड़ें पकड़ रही है, आज जरूरत है उन पर नियंत्रण करने की। महावीर ने संयम का जीवन सूत्र दिया था। अपेक्षा है— आवश्यकता और उपयोगिता में फर्क समझा जाए। इस दिशा में हम ही को सोचना है और हमें ही यह बात समझनी है कि अर्थ का अर्जन, संग्रह और भोग इन तीनों कड़ियों के साथ संयम और विवेक की चेतना का विकास करें। स्वस्थ समाज की संरचना में क्या आप और हम स्वयं आगे आकर स्वयं से इन अच्छाइयों की शुरुआत नहीं कर सकते? क्या यह श्रेय हम नहीं पा सकते?

हम महावीर के अनुयायी होने का अहम् तो पालते हैं, पर सही अर्थों में हम हैं कहां? हम तो बंट गए संप्रदाय के खेमों में। धर्म गौण हो गया, संप्रदाय मुख्य बन गया और इन्हीं संप्रदायों की सुरक्षा में और स्वयं की पद-प्रतिष्ठा की रक्षा में उस धर्म को बांट दिया जो मानव मानव को जोड़ता है, सह—अस्तित्व का संदेश देता है, और पवित्रता का बोध जगाता है। आज अपने अपने स्वार्थों की खिंची लक्ष्मण रेखाओं को मिटाकर यदि संप्रदाय से ऊंचा धर्म को सम्मान देना शुरू कर दें तो फिर एकबार समन्वयमंच की तैयारी संभव हो सकती है और फिर गर्व से कह सकते हैं—हम सब एक हैं, भगवान महावीर के सच्चे अनुयायी हैं।

महावीर बनना है तो आइए हम समय का मूल्यांकन करें। वर्तमान में जीना सीखें। दुःख में सुख तलाशें। प्रतिकूलताओं में अनुकूलताओं का सृजन करें। आलोचना नहीं समीक्षा करें। सिर्फ बेमतलब की बातों में जिंदगी का कीमती वक्त न गवाएं, क्योंकि वक्त कभी लौटकर वापस नहीं आता। समय पर जो सही दिशा में कदम उठाने का निर्णय नहीं लेगा वह कभी मंजिल तक नहीं पहुंच सकता।

महावीर ने दुनिया को देखा अवश्य पर उसका अनुसरण नहीं किया। उन्होंने जो भी किया, हटकर किया। जब सारी दुनिया भोग विलास में डूबी थी, उस वक्त महावीर ने भर यौवन में संन्यास लिया। त्याग और संयम उनके जीवन का स्वभाव था। इससे बोधपाठ मिलता है कि सभी करते हैं, इसलिए आप मत कीजिए अन्यथा आपमें और उनमें क्या फर्क रहेगा। लकीर से हटकर वही करो, उस पथ पर चलने का प्रयास करो जिस पर भगवान महावीर चले थे।

महावीर का देश आज अनगिनत समस्याओं से घिरा है। रोटी-कपड़ा, मकान, शिक्षा और चिकित्सा जैसी अनिवार्य आवश्यकताओं से जुड़े सुख पर भी प्रश्नचिह्न लग रहे हैं। व्यक्ति, परिवार, समाज, देश—जहां भी नजर रखें, सुख कम : दुःख ज्यादा, शांति कम : तनाव ज्यादा दीखता है। अभाव, अपेक्षा, आकांक्षा आदि जीवन से जुड़ी छोटी-छोटी समस्याओं ने मन की समाधि को खंडित कर रखा है। प्रश्न है—ऐसे परिवेश में कैसे करें तैयारी महावीर बनने की?

चिंतन के क्षणों में एक समाधान मिला—स्वयं सत्य खोजें।

—मुमुक्षु शांता

# महावीर के सपनों का समाज

आचार्य तुलसी

मनुष्य स्वप्नद्रष्टा प्राणी है। वह अर्ध-निमीलित अवस्था में अनेक स्वप्न देखता है। उन स्वप्नों का उसके जीवन पर अचिंतनीय प्रभाव पड़ता है। कभी उसे स्वप्न में भावी घटनाओं का पूर्वाभास हो जाता है, कभी क्षेत्रीय दूरी पर घटित घटंना साकार हो उठती है, कभी अवचेतन मन की अतृप्त-आकांक्षाएं स्वप्न का रूप ले लेती हैं और कभी अनर्गल तथा अयथार्थ कल्पनाएं स्वप्न में रूपायित हो जाती हैं। स्वप्न-विज्ञान के संबंध में अनेक रहस्यमय तथ्य प्रकाश में आए हैं एवं एतद्विषयक शोध से और भी नए आयाम उद्घाटित हो सकते हैं। वैज्ञानिक उपकरणों के सहयोग से भी निद्रावस्था, स्वप्नावस्था और जागरणावस्था की मन:स्थितियों एवं मस्तिष्कीय क्रियाओं के विषय में काफी अच्छी जानकारी उपलब्ध की गई है। कुछ विचारकों का तो यह अभिमत है कि स्वप्नद्रष्टा व्यक्ति ही अपने जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण काम कर सकता है। यह दूसरी बात है कि उसके स्वप्न का आधार और प्रक्रिया क्या होती है, किंतु जो निरंतर स्वप्न देखता है और जिसके स्वप्नों में कोई संगति नहीं होती, उस व्यक्ति का स्वप्नदर्शन उसके दुर्बल मन और मस्तिष्क का सूचक है।

कुछ व्यक्ति जागृत अवस्था में भी स्वप्न देखते हैं। ऐसे व्यक्ति या तो कवि और लेखक होते हैं अथवा होते हैं महान क्रांतिकारी और सुधारवादी। इनके स्वप्न-जगत का संबंध अतीत की अपेक्षा भविष्य से अधिक होता है। महात्मा गांधी ने अपने देश के संबंध में कुछ स्वप्न देखे थे। उनके कुछ सपने पूरे हुए और कुछ अधूरे ही रह गए। इसी प्रकार अन्य महापुरुषों ने भी अपने समाज या राष्ट्र के बारे में समय-समय पर कई प्रकार के स्वप्न संजोए हैं। उन स्वप्नों का न तो कहीं व्यवस्थित संकलन है और न ही उनके संबंध में कोई विशेष काम हुआ है। इसलिए जिन महापुरुषों के जो स्वप्न पूरे नहीं हो पाए, उनकी पूर्णता के लिए कोई व्यवस्थित परंपरा भी आगे नहीं बढ़ सकी। भगवान महावीर ने भी अपने जीवन में अनेक स्वप्न देखे होंगे। उन स्वप्नों का संबंध व्यक्ति, परिवार, समाज या राष्ट्र किसी से भी हो सकता है। प्रस्तुत संदर्भ में उनके स्वप्नजगत में समाज का क्या स्वरूप रहा होगा, इस विषय पर संक्षिप्त-सी चर्चा की जा रही है।

भगवान महावीर पूर्णपुरुष थे, इसलिए उनका पुरुषार्थ किसी भी परिस्थिति में आहत नहीं होता था। वे यथार्थवादी थे, इसलिए अतिकल्पना के चौखट में उनकी आस्था फिट नहीं बैठती थी। वे अनेकांतवादी थे, इसलिए किसी भी तत्त्व के प्रति उनके मन में कोई पूर्वाग्रह नहीं था। वे सत्य के साक्षात् द्रष्टा थे, इसलिए उनकी अवधारणाओं का आधार आनुमानिक ज्ञान नहीं था। वे भरे हुए अमृतघट थे, इसलिए किसी उपयुक्त पात्र की प्रतीक्षा करते रहते थे। वे जीवनभर मुक्त हाथों से ज्ञानामृत बांटते रहे, पर एक बूंद भी खाली नहीं हुए। उनकी आंखों में एक साथ हजार-हजार सूर्य चमकते थे, इसलिए वे अपनी ज्ञान-रश्मियों से लोकजीवन की अन्त:तमिस्रा को हरते रहते थे। उनके मूल्यांकन का आधार जाति, सत्ता या संपदा नहीं थी, इसलिए वे मानव मात्र को उपकृत करने के लिए कटिबद्ध थे। यही कारण है कि वे विशिष्ट और सामान्य के बीच सेतु बनकर ठहर सके।

भगवान महावीर आत्मवादी थे। उनका यह अभिमत था कि हर व्यक्ति अपनी पहचान करके ही अपने लक्ष्य तक पहुंच सकता है। इसी संदर्भ में उन्होंने **अप्पणा सच्चमेसेज्जा**—स्वयं सत्य खोजें, इस प्रेरक सूक्त का संगान किया था। उनका दर्शन आत्म कर्तृत्व की नींव पर टिका हुआ था, इसीलिए उन्होंने परोक्ष विकास को अपनी सहमति नहीं दी। उनके पास सत्य को पहचाननेवाली आंख थी, इसलिए उन्होंने उन परंपराओं और संस्कारों को नई पीढ़ी पर कभी नहीं थोपा, जिनके औचित्य के सामने प्रश्नचिह्न खड़ा हो चुका था। बलप्रयोग में उनका विश्वास नहीं था, इसलिए उन्होंने सत्य का निरूपण करने के बाद यह नहीं कहा कि तुम्हें इस पथ पर चलना ही होगा। उन्होंने 'मइमं पास' इस अनमोल सूक्त में अपने शिष्यों और श्रद्धालु भक्तों को भी स्वतंत्र रूप से सोच-विचार करने की छूट दे दी थी। अर्हत बनकर भी उन्होंने अपनी अर्हता को कहीं आरोपित नहीं किया, यही कारण है कि विश्वपुरुष महावीर के सामने उनके अनेक प्रतिवादी अपनी अस्मिता स्थापित किए हुए थे।

भगवान महावीर का उदय उस युग में हुआ था, जब सामाजिक मूल्य-मानकों में कोई संतुलन नहीं था। शक्ति और संपत्ति के आधार पर शोषक और शोषित दो वर्गों का अस्तित्व था। एक-दूसरे को नीचा दिखाने और गिराने का मनोभाव पनप चुका था। जातिवाद का दलदल जन-जन के मन में व्याप्त हो गया था। बड़प्पन का आधार वर्णवाद की व्यवस्था को माना जाता था। कुछ और भी ऐसी बातें थीं, जिन्होंने महावीर के तैजसकेंद्र-नाभिचक्र को परिस्पंदित कर दिया। एक अज्ञात बेचैनी ने उनके उस शरीर को प्रकंपित कर दिया, जिसके एक अंगूठे ने विशाल मेरु पर्वत को हिलाकर देवों को विस्मय-विमुग्ध बना दिया था।

प्रजा की पीड़ा को उन्होंने अपनी पीड़ा के रूप में अनुभव किया। उनके अन्त:करण में समत्व का सागर हिलोरे ले रहा था, इसलिए उनकी दृष्टि में कोई छोटा या बड़ा नहीं था। इस आत्मीय भाव से अभिभूत जनता ने उनकी सर्वोपरि प्रभुता स्वीकार की। इस प्रभुता में शास्य-शासक भाव नहीं था, क्योंकि उनका आत्मौपम्य भाव सहज रूप में जनता को आप्यायित कर रहा था।

भगवान महावीर केवलज्ञान की कमनीय आभा से आलोकित हो रहे थे। सृष्टि का कोई भी रहस्य उनसे अज्ञात नहीं था। वे चर-अचर, अरूप-सरूप सब पदार्थों की अंतरंग और बहिरंग परिणतियों को प्रत्यक्ष देख रहे थे। विश्व के रंगमंच पर जीव और पुद्‌गलों की नाट्यशाला का प्रत्येक दृश्य उनके आगे रूपायित हो रहा था। अपने संपर्क में आनेवाले लोगों के आचार-व्यवहार से उन्हें पूरा संतोष नहीं था। उन्होंने एक ऐसी समाज-संरचना का स्वप्न देखा, जिसमें आदर्श और व्यवहार के मध्य कोई खाई नहीं थी। उन्होंने एक ऐसे समाज की कल्पना की, जो विश्व-परिवार की परिकल्पना को साकार कर सकता था। उनकी स्फटिकमयी वीतराग चेतना पर जिस समाज का प्रतिबिंब पड़ा, उसका स्वरूप इस प्रकार हो सकता है—

- व्यक्ति की जीवनशैली में संयम और अहिंसा की प्रधानता हो।
- समाज व्यवस्था की आधारशिला समतामूलक हो।
- मानवीय एकता में विश्वास का सिद्धांत व्यावहारिक हो।
- जाति, रंग और लिंग आदि बड़प्पन की कसौटियां न हो।
- प्रत्येक व्यक्ति को न्याय प्राप्त करने का अधिकार हो।
- स्वार्थ चेतना को हाशिये में रखकर परार्थ और परमार्थ चेतना को पूरा पृष्ठ उपलब्ध हो।
- अनासक्त चेतना के विकास का लक्ष्य हो।
- अर्थ के अर्जन में शुद्धि की निष्ठा के साथ विसर्जन की चेतना जागृत हो।
- शिक्षा की प्रतिबद्धता संस्कार निर्माण तथा व्यक्तित्व विकास के साथ हो।
- जन-जीवन व्यसनमुक्त, रूढ़िमुक्त और आवेशमुक्त हो।
- वैचारिक अनाग्रह का क्षितिज खुला हो।
- इच्छा-संयम और उपभोग-संयम का प्रशिक्षण मिलता हो।
- शोषण और संग्रह की चेतना को उभरने का अवसर नहीं हो।
- सम, शम और श्रम की चेतना में प्रगाढ़ निष्ठा हो।
- कोई भी व्यक्ति जीवन-यापन की न्यूनतम सुविधाओं से वंचित न हो।

विधेयात्मक रूप में कल्पना की जाए तो उस समाज में सुख और आनंद का सततप्रवाही स्रोत रहेगा। संतोष का साम्राज्य होगा। अभय का वातावरण होगा। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना का विस्तार होगा। संतजनों का सम्मान होगा। भ्रातृत्व का विकास होगा। इच्छाओं का नियंत्रण होगा। सांस्कृतिक मूल्यों का बोध होगा। धार्मिक सहिष्णुता का विकास होगा और जीवन-व्यवहार में समत्वयोग का अभ्यास होगा।

भगवान महावीर का प्रतिवर्ष जन्म-दिवस और निर्वाण-दिवस मनाया जाता है, किंतु क्या कभी उनके सपनों को साकार करने का चिंतन हुआ? क्या उनके भक्तजन उनके द्वारा निर्देशित आदर्शों पर चलने के लिए संकल्पित हुए? क्या उनके दर्शन को जन-जन तक पहुंचाने का प्रयत्न हुआ? क्या अपने आपको उनका अनुयायी मानने में गौरव का अनुभव हुआ? यदि नहीं तो फिर आयोजनों और उत्सवों की धूमधाम के बाद एक सपाट खामोशी क्यों छा जाती है? ये सब ऐसे प्रश्नचिह्न हैं जो हमें एक बार पीछे मुड़कर देखने के लिए प्रेरित करते हैं। जिस दिन हम भगवान महावीर के सपनों का समाज बना सके, उस दिन इन प्रश्नों के आगे विराम लग जाएगा, अन्यथा ये सवाल उसी मुद्रा में खड़े हुए हमारे पुरुषार्थ को चुनौती देते रहेंगे। □

---

शरीर जल से पवित्र होता है<br>
मन सत्य से।<br>
बुद्धि ज्ञान से और<br>
धर्म से पवित्र होती है।

# महावीर को पूजें या समझें?

## आचार्य महाप्रज्ञ

एक पत्रकार ने पूछा—भगवान महावीर का पचीससौवां निर्वाण-दिवस मनाया जा रहा है, आज उसकी उपयोगिता क्या है? महावीर को पचीस सौ वर्ष हुए हैं। पचीस सौ वर्ष के अंतराल में यदि हमारे सामने यह प्रश्न होता है कि आज क्या उपयोगिता है? तो लाखों-लाखों वर्ष बीत गए, सूरज की क्या उपयोगिता है? शायद नहीं पूछा। मैं मानता हूं, महावीर की सबसे बड़ी उपयोगिता यदि है तो आज है, क्योंकि आज हम महावीर की जन्म-जयंती उस स्थिति में मना रहे हैं, जिस स्थिति में हिंसा का विकास हो रहा है। मैं इस बात को पर्याप्त नहीं मानता कि केवल हिंसा का विकास हो रहा है। हिंसा का विकास उस जमाने में भी था, जब महावीर ने जन्म लिया था, किंतु आज की परिस्थिति और उस जमाने की परिस्थिति में बहुत मौलिक परिवर्तन मैं देखता हूं और वह अंतर यह है कि जिस युग में महावीर ने जन्म लिया था, उस युग में हिंसा तो थी, परंतु हिंसा समस्या को सुलझाने का विकल्प नहीं थी। आज सबसे बुरी बात यह हो गई है कि वर्तमान समस्याओं को सुलझाने का यदि कोई एकमात्र विकल्प है तो वह है हिंसा। इतनी भयंकर दार्शनिक विकृति और वैचारिक विकृति मुझे किसी युग की चिंतन धारा में देखने को नहीं मिलती, जो आज मिल रही है।

### यदि महावीर आज होते

आज हमारा विश्वास अहिंसा से उठ गया है। अहिंसा हमारी समस्याओं को सुलझाने का कोई विकल्प है, अहिंसा के द्वारा कोई समस्या सुलझाई जा सकती है, यह धारणा आधुनिक मानव के मन से निकल गई है। पुरानी पीढ़ी में हो सकता है, कुछ बची भी हो, किंतु आज की नई पीढ़ी में यह संस्कार समाप्त हो गया है कि अहिंसा भी हमारे लिए उपादेय है या उसके द्वारा हमारे जीवन की कोई समस्या सुलझाई जा सकती है। आज हमने एकमात्र विकल्प चुन लिया है हिंसा, हिंसा की भाषा।

सरकार से कोई बात मनवानी है तो हिंसा करनी होगी और सरकार भी कोई बात मानेगी तो तब मानेगी जब सामने हिंसा आ जाती है। यह गोली की भाषा जो चल रही है और इस गोली की भाषा में जिसका विश्वास हो गया, मैं समझता हूं कि यह भूल हो गई प्रकृति की। महावीर को तब नहीं, उन्हें आज जन्मना चाहिए था। कितना अच्छा होता यदि महावीर जैसा तेजस्वी और पराक्रमी व्यक्तित्व आज इस धरती पर जन्म लेता और हमारे बीच में होता। हमारी गलत धारणाओं और गलत-उपक्रमों को बदलने के लिए कोई उपक्रम प्रस्तुत करता।

### विचार की गहराई में

महावीर चक्षुदाता थे। पुराने जमाने की बात है। वैद्य के पास एक व्यक्ति गया और बोला—'वैद्यजी! इस शहर में कितने लोग कपड़े रखने वाले हैं और कितने व्यक्ति बिना कपड़े वाले, मुझे गिनकर आप बता दीजिए।' वैद्य ने कहा—'मैं कहां निकम्मा बैठा हूं, जो यह गिनती करता फिरूं। मैं किस-किस के पास

जाऊं? मैं एक काम कर देता हूं कि तुम्हारी आंखों को ठीक कर देता हूं।' उसने एक अंजन लगाया, जिससे आंखें खुल गई। वैद्य ने कहा—'अब जाओ और देख लो कि कौन वस्त्र रखने वाला है और कौन बिना वस्त्र का।'

जो आदमी आंख देता है, दर्शन देता है, सब कुछ देखने की ताकत देता है। भगवान महावीर ने एक अंजन आंजा, देखने के लिए दृष्टि दी। ढाई हजार वर्षों की अवधि में, समूचे भारतीय चिंतन में महावीर अपने प्रकार का अकेला व्यक्तित्व है। मैं जैन मुनि हूं, महावीर का अनुयायी हूं, इसलिए यह बात नहीं कह रहा हूं। मेरे आचार्य ने मेरी आंख में कोई ऐसा अंजन आंज दिया जिससे मुझे ऐसा नहीं लगता कि जैन हो, वह तो अच्छा ही होता है और बौद्ध होता है या और कुछ होता है, वह खराब होता है। मैं विचारों को देखता हूं जिसका विचार मुझे गहराई लिये लगता है, चाहे माओ का हो, चाहे कन्फ्यूशियस का हो, उसके सामने मेरा सिर श्रद्धा से झुक जाता है। महावीर के प्रति इसलिए मेरा सिर नहीं झुकता कि मैंने उनकी परंपरा को स्वीकार किया है। परंपरा को स्वीकार करना एक बात है, किंतु विचारों के पीछे लग जाना—यह दूसरी बात है। मैंने देखा, महावीर ने जो कुछ भी किया, यदि सचमुच! हम भारतीय चिंतन का विश्लेषण करें तो उसमें कुछ ऐसी मौलिकता पाएंगे, जो विरल, अपने आप में अद्वितीय और अनुपम होगी।

## महावीर : वर्तमान संदर्भ

कुछ वर्ष पहले मैं एक ग्रंथ लिखने के प्रसंग में कुछ बातें देख रहा था। खास बातें नहीं थी और ऐसी भी नहीं थी कि वे बातें मैंने पहली बार देखी हों। न जाने कितनी बार ग्रंथ का पारायण किया था। ग्रंथ भी दार्शनिक गहराई का नहीं था। साधारण था—श्रावक-प्रतिक्रमण। मैं देख रहा था कि देखते-देखते ध्यान गया और कुछ बातें ध्यान में आईं। मैंने उसी समय आचार्य तुलसी के सामने रखीं। महावीर ने कहा है—'अच्छा हो, हम अपना संयम अपने आप करें।'

अब आप देखिए। अनेक वर्ष पूर्व स्वर्ण का नियंत्रण हुआ था। आज भूमि का नियंत्रण हो रहा है। शहरी संपत्ति का नियंत्रण हो रहा है। अनाज का संग्रह करने वालों पर नियंत्रण सरकार लगा रही है। आज आपको भगवान महावीर की वाणी याद होती तो शायद सरकार को यह नियंत्रण लगाने की आवश्यकता न पड़ती। आप देखिए श्रावक प्रतिक्रमण को, पांच व्रतों और अतिचार को देखिए। आज सरकार क्या कर रही है और सैकड़ों वर्ष पूर्व भगवान महावीर क्या कह रहे हैं? वे कह रहे हैं—धन की सीमा करो कि इतने से अधिक धन का संग्रह नहीं करूंगा, इतने से ज्यादा अनाज का संग्रह नहीं करूंगा।

नियंत्रण था, पर उसको भुला दिया। इसीलिए सरकार को बाध्य होकर नियंत्रण लाना पड़ रहा है। पशुओं का संग्रह नहीं करूंगा। प्रमाण से ज्यादा घरेलू उपकरणों का संग्रह नहीं करूंगा। ये थे भगवान महावीर के अपरिग्रह या इच्छा-परिमाण व्रत के पांच उपदेश। आज हम धर्म को शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। धर्म आध्यात्मिक है, धर्म व्यक्तिगत है, किंतु भगवान महावीर ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने जहां एक ओर धर्म के व्यक्तिगत रूप का प्रतिपादन किया, धर्म को आध्यात्मिक रूप में प्रतिपादित किया वहां दूसरी ओर धर्म के संदर्भ में सामाजिक बुराइयों और सामाजिक समस्याओं के प्रतिकार का सूत्र दिया। कितना अच्छा होता कि हम महावीर को भली-भांति समझते।

## श्रेष्ठ है आज्ञा का पालन

आचार्य हेमचंद्र ने लिखा—वीतराग! आपकी पूजा करने की अपेक्षा आपकी आज्ञा का पालन बहुत श्रेष्ठ है। दो बातें हैं—एक पूजा करना और एक आज्ञा का पालन करना। हम ऐसी संतान हो गए कि पूजा तो खूब करते हैं, किंतु आज्ञा का पालन नहीं चाहते। हम पिता के चरणों में वंदन करना जानते हैं, पर यदि पिता आज्ञा दें कि इधर आओ तो हम उधर जाएंगे। अरे! बाप कैसे प्रसन्न होगा? आप उनकी हजार बार पूजा करें और उनकी एक बात भी टाल दें तो वे प्रसन्न

मानव ! तुम संसार में महान् आदमी हो। तुम अनंत शक्ति के स्रोत हो, अक्षय आनंद के भंडार हो। तुम्हारे एक हाथ में स्वर्ग और दूसरे हाथ में नरक है। तुम्हारी एक भुजा में संसार दूसरी में मुक्ति है। तुम्हारी एक दृष्टि में सृष्टि दूसरी में प्रलय है। तुम भाग्य के खिलौने नहीं, निर्माता हो। तुम समय के सेवक नहीं, शासक हो। तुम काल के ग्रास नहीं, किंतु कालजयी पुरुष हो। तुम अपने स्वरूप को समझो, शक्तियों को जगाओ और जो आज तक नहीं कर पाए, वह कर दिखाओ।

कैसे होंगे? यह स्थिति आज जैन समाज की नहीं, सारे धार्मिक समाजों की हो रही है।

हिंदुस्तान के वैचारिक पतन और मानसिक गुलामी का यदि कोई बड़ा कारण है तो वह है कोरा पूजावाद, आचार-शून्य पूजावाद। इस भक्तिवाद ने, इस कोरे कर्मकाण्ड और कोरी उपासना ने हिंदुस्तान के चरित्र का जितना पतन किया, उतना किसी ने नहीं किया, उतना शायद नास्तिकों ने भी नहीं किया।

इस सारी स्थिति के संदर्भ में महावीर को समझने का प्रयत्न करें। हमारा एक दिशा में प्रयत्न होना चाहिए। ऐसा नहीं कि हमारी दृष्टि बदलती रहे, कभी कुछ और कभी कुछ सोचती रहे। अपने लिए कुछ और, दूसरे के लिए कुछ और सोचें। मुझे एक प्रसंग याद आ रहा है–राजनैतिक दलों में आजकल दलबदल की बात चल रही है। एक बड़े राजनैतिक कार्यकर्ता ने अपना दल बदल लिया। जिस पार्टी से वे निकले, उस पार्टी के हाईकमान ने प्रस्ताव किया–उसने अनुशासन भंग किया है, इसलिए उसे तिरस्कृत करना चाहिए, उसकी निंदा करनी चाहिए, दण्डित करना चाहिए। हो गया। थोड़े दिन बाद दूसरी पार्टी का सदस्य उनकी पार्टी में आया तो सब मिले और मिल कर बोले—'इसका हृदय परिवर्तन हुआ है, इसलिए इसका अभिनंदन होना चाहिए।' जहां आने का प्रश्न है, वहां हृदय परिवर्तन के लिए स्वागत होना चाहिए। जहां जाने का प्रश्न है वहां तिरस्कार होना चाहिए। यदि सचमुच! जैन समाज ने ऐसा दृष्टिकोण रखा, हमारे तोलने के बाट दो प्रकार के रहे तो मैं समझता हूं, जन्म शताब्दी मनाने का अर्थ भी बहुत कम हो जाएगा। आज हम यह सोचें कि भगवान महावीर ने जो सूत्र दिए थे, उन सूत्रों का हम पालन करें।

## बात संयम और व्रत पर

भगवान महावीर ने जहां तक मैं समझ पाया हूं और मुझे पढ़ने को मिला है, कहीं भी नहीं कहा कि मेरा कोरा नाम जपो, कोरी मेरी पूजा करो, यह करो, वह करो। भगवान के पास कोई भी आया उससे उन्होंने यही कहा—'व्रतों को स्वीकार करो।' हिन्दुस्तान में एक महावीर ही ऐसे हुए हैं, जिन्होंने व्रतों पर इतना बल दिया है, संयम और चरित्र पर इतना बल दिया है।

आज इस समय हमें आत्मालोचन करना चाहिए कि महावीर की जयंती मना रहे हैं और प्रतिवर्ष मनाते चले जा रहे हैं। मैं मानता हूं कि शुभ है, बुरा नहीं है किंतु उसके साथ यह और जोड़ देना चाहिए–महावीर की जयंती मनाते समय हम इस बात को न भूलें कि अकेले भगवान महावीर ने अपने जमाने में तीन लाख से अधिक बारहव्रती श्रावक पैदा किए थे। आज हमारे जितने जैन हैं, उनमें जैन अनुयायी तो हैं, किंतु श्रावक कितने हैं, इस पर हमें विचार कर लेना चाहिए। आज चारों समाजों में हजारों साधु-साध्वियां हैं। क्या आज तीन लाख जैनों को बारहव्रती श्रावक नहीं बनाया जा सकता? अगर आज तीन लाख श्रावक जैनों में बारहव्रती बन जाएं तो हिंदुस्तान में शायद एक नई क्रांति का सूत्रपात हो सकता है। मैं आशा करता हूं हिंदुस्तान में आध्यात्मिक क्रांति का सूत्रपात करने के लिए जैन समाज आगे आएगा। ❑

# स्थितप्रज्ञता की पहचान

## आचार्य महाश्रमण

आर्हत वाङ्मय में एक सुंदर शब्द प्रयुक्त हुआ है–ठियप्पा। जैन वाङ्मय का ही दूसरा शब्द है–वीतराग। स्थितात्मा और वीतराग एक भूमिका पर आसीन व्यक्ति प्रतीत होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में 'स्थितप्रज्ञ' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह भी इन दोनों शब्दों के तुल्य लगता है। जो वीतराग है, स्थितात्मा है वह स्थितप्रज्ञ होता है। गीता में कहा गया है–

**वीतरागताभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।**

स्थितप्रज्ञ के लिए तीन शर्तें आवश्यक हैं। जो रागमुक्त हो गया है, जो भयमुक्त हो गया है और जो आवेशमुक्त हो गया है, वह स्थितप्रज्ञ होता है। एक शब्द में कहा जाए तो जो समतायुक्त होता है, वह स्थितप्रज्ञ होता है। आदमी का जीवन रागात्मक होता है उसकी पदार्थों के प्रति आसक्ति होती है, व्यक्ति-विशेष के प्रति अनुराग होता है और यहां तक कि धर्म के क्षेत्र में भी थोड़ा अनुराग चलता है। जिसको वीतराग बनना है, स्थितप्रज्ञ बनना है, उसे पूर्णतया रागमुक्त बनना होगा। एक शिष्य का गुरु के प्रति जो प्रशस्त अनुराग होता है, वह भी आखिर त्याज्य होता है। भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम के मन में भी भगवान महावीर के प्रति रागभाव था। जब तक वह राग रहा, गणधर गौतम को केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ।

गृहस्थ–जीवन में राग चलता है, परंतु वहां राग पर त्याग का अंकुश रहना चाहिए। गार्हस्थ्य में मनोरंजन को भी महत्त्व दिया जाता है, किंतु आत्मरंजन भी होना चाहिए। वहां भोग चलता है तो साथ में योग भी चले। राग पर त्याग का, मनोरंजन पर आत्मरंजन का और भोग पर योग का अंकुश रहे तो गृहस्थ जीवन भी कुछ शांतिमय बन सकता है।

**पहली शर्त है रागमुक्त चेतना का विकास।** कभी-कभी बड़े-बड़े आचार्यों के मन में भी रागभाव आ जाता है। चाहे उसे धर्मानुराग कह दिया जाए अथवा प्रशस्त राग कह दिया जाए, परंतु वीतरागता की स्थिति में वह भी बाधक बन जाता है। रागभाव/आसक्ति के कारण आदमी का पतन हो सकता है, वह विनाश तक जा सकता है। तेरापंथ धर्मसंघ के पांचवें आचार्य वीतरागकल्प आचार्य मघवा थे। इतिहास बताता है कि वे कितने प्रशांत स्वभाव, कितने आसक्तिमुक्त और कितने महान् संत थे। एक बार योजनापूर्वक किसी साधु ने उन पर धूल गिरा दी। वे उठे, धूल को साफ किया

और पुनः अपने काम में लग गए। उनके गुरु जयाचार्य ने पूछा—'मघजी! क्या हुआ?' मघजी ने कहा—'किसी से धूल गिर गई है। आंधी-तूफान में तो धूल आती ही रहती है। कोई खास बात नहीं है।' स्थितप्रज्ञ वह होता है जो हर स्थिति में सम रहना जानता है।

**दूसरी शर्त है भयमुक्त चेतना का विकास।** आदमी को भय लगता है। कई बार आदमी इतना भयाक्रांत हो जाता है कि सामान्य स्थिति में भी घबरा जाता है। दिल्ली में एक दुबला-पतला आदमी रहता था। उसने बताया कि यहां जो यमुना पर पुल बना हुआ है, उसके ऊपर से जब गुजरता हूं तब मुझे बहुत भय लगता है। उससे पूछा गया कि भय किस बात का लगता है? उसने कहा—'भय तो एक ही बात का लगता है कि कहीं पुल गिर गया तो मेरा क्या होगा?' हालांकि यमुना के उस पुल के ऊपर से भारी भरकम गाड़ियां निकलती हैं तब भी पुल नहीं गिरता तो भला उस दुबले-पतले आदमी के चढ़ने से वह पुल कैसे गिर सकता है? संभव है उसके भीतर भय की कोई ग्रंथि बन गई थी। आदमी अंधेरे में डरता है। भूत आदि की कल्पना दिमाग में आ जाती है और वह कल्पना आदमी को व्यथित बना देती है।

आदमी हिंस्र-पशुओं से डरता है, अपमान से भी डरता है, यह उसकी दुर्बलता है। डर की स्थिति सामने आने पर घबराना नहीं चाहिए, अपितु उसका मुकाबला करना चाहिए। कई बार आदमी असद्भय से भयभीत हो जाता है, वास्तविकता कुछ नहीं होती। काल्पनिक भय दिमाग में घुस जाता है और वह आदमी को परेशान करता रहता है। भयमुक्ति के लिए आदमी को किसी का आलंबन लेना चाहिए।

मंत्र एक प्रकार का आलंबन है। आदमी अपने आराध्य का भक्तियुक्त स्मरण करे, जप करे तो भय की स्थिति में वह मंत्र उसे मनोबल प्रदान करता है, सहारा देता है और उस सहारे से आदमी कठिनाई को भी पार कर सकता है। अनेक लोग भय के कारण तनावग्रस्त रहते हैं और मन ही मन दुःख भोगते रहते हैं। जहां भय है, वहां सत्य की साधना में भी कठिनाई पैदा हो जाती है। भयभीत आदमी झूठ बोल सकता है और हिंसा भी कर सकता है। इसलिए सत्य की साधना के लिए और अहिंसा की आराधना के लिए भी आवश्यक है कि आदमी अभय का अभ्यास करे। भय किसी से न हो, न मौत का भय रहे, न बीमारी का भय रहे, किसी भी स्थिति का भय न हो। आदमी भीतर से निर्भीक रहे, भयमुक्त रहे तो वह स्थितप्रज्ञ बन सकता है।

**तीसरी शर्त है आवेशमुक्त चेतना का विकास।** जो आदमी आवेशमुक्त हो जाता है वह स्थितप्रज्ञ बन सकता है। प्रायः प्रतिकूल स्थिति में आदमी को गुस्सा आ जाता है, किंतु जिसने शांति का अभ्यास किया है, क्षमा का अभ्यास किया है, वह व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थिति में भी आक्रोश नहीं करता, बड़े शांत भाव और प्रसन्न मन से उसे सहन कर लेता है। संत एकनाथ गोदावरी में स्नान करके पुनः लौट रहे थे। एक आदमी ने उन पर थूक दिया। संत एकनाथ ने दूसरी बार स्नान किया। उस व्यक्ति ने फिर थूक दिया। यह क्रम चलता रहा। आखिर थूकने वाला व्यक्ति थक गया। उसने विनम्र निवेदन किया—'संत महोदय! मुझे माफ करना। मैंने आपके साथ दुर्व्यहार किया है।' संत ने कहा—'तुमने बार-बार थूका, इसलिए मुझे बार-बार मां गोदावरी में स्नान करने का मौका मिला, अन्यथा प्रतिदिन एक बार ही स्नान करता हूं। इसमें गुस्सा किस बात का? तुम तो मेरे उपकारी हो।' बहुत कठिन बात है प्रतिकूलता की स्थिति में शांत रह जाना, आवेश में नहीं आना। महापुरुषों के जीवन को देखें, उन्होंने किस प्रकार क्षमा की साधना की थी, कितना सहन किया था?

जो व्यक्ति रागमुक्त हो जाता है, भयमुक्त हो जाता है और आवेशमुक्त हो जाता है, वह व्यक्ति स्थितप्रज्ञ बन सकता है। जैन वाङ्मय का वीतराग अथवा स्थितात्मा और गीता का स्थितप्रज्ञ, इन तीनों में बड़ी समानता है। आदमी अभ्यास के द्वारा, निष्ठा के द्वारा वीतराग अथवा स्थितप्रज्ञ की भूमिका तक पहुंच सकता है। ❐

# भगवान महावीर के सन्देश और हमारा कर्तव्य

※ ※ ※

मुनि राकेश कुमार

भगवान महावीर का तत्त्व-दर्शन संयम पर आधारित है। जीवन की लालसाओं और तृष्णाओं पर आध्यात्मिक नियंत्रण करने के लिए उन्होंने विशेष रूप से बल दिया है। 'जहां लोहो, तहा लोहो' जैसे-जैसे लोभ बढ़ता है, वैसे-वैसे लाभ बढ़ता है, उनका यह एक प्रसिद्ध सूत्र है। 'इच्छाहु आगास समा अणंतया'—इच्छा आकाश के समान अनंत हैं। अपने उपदेशों को उन्होंने इसी पृष्ठभूमि पर आगे बढ़ाया था। आज का जन मानस इससे विपरीत दिशा में बह रहा है। पदार्थवाद और भोगवाद के विस्तार को वह प्रगति का मापदण्ड मान रहा है। ज्यों-ज्यों आवश्यकताएं बढ़ेंगी त्यों-त्यों आविष्कार बढ़ेंगे, विकास के नए-नए उन्मेष प्रकट होंगे, इसी केंद्र पर उसकी सारी दौड़ हो रही है।

भगवान महावीर के संदेश का आज के युग के साथ यह एक मौलिक संघर्ष है। समझौतावादी नीति का परित्याग कर हमें इस ओर गंभीरता से विचार करना चाहिए। अधिकतर जैन लोग स्वयं को सिद्धांतवादी समझते हैं। वे छोटी से छोटी बात को शास्त्र और तर्क की कसौटी पर कसने का प्रयास करते हैं, किंतु इस स्पष्ट सत्य की ओर बहुत कम लोग विचार करते हैं। यह एक आश्चर्य का विषय है। सामाजिक जीवन के लिए अल्प-आरंभ और अल्प-परिग्रह के भगवान महावीर के संकेत वर्तमान सभ्यता के वातावरण में कभी भी विकसित नहीं हो सकते। अहिंसा और अपरिग्रह को लेकर आज जैन समाज के सामने नाना प्रकार के प्रश्न आते हैं। उनकी संगति बिठाने का प्रयास किया जाता है, किंतु जहां मूल में अन्तर है वहां समन्वय नहीं हो सकता।

जैन समाज का संगठन बहुत छोटा है। आज यह एक चिंता का विषय माना जाता है, किंतु संगठन की शक्ति संख्या और आकार पर नहीं, प्राण-शक्ति पर निर्भर है। इसके लिए आधार और उद्देश्य का स्पष्ट होना आवश्यक है। हर प्रकार की स्थिति में घुलमिल जाने की मनोवृत्ति ने आज जैन समाज की आत्मा को दुर्बल बना दिया है। उसमें स्वतंत्र तेज प्रगट नहीं हो रहा है। समन्वय अच्छा है, होना चाहिए, किंतु आदर्श को भूल कर नहीं। भगवान की अहिंसा हमें नम्र और कोमल बनाने के साथ-साथ तेजस्वी और क्रांतदर्शी भी बनाती है।

## जैनत्व और जातिवाद

जैनत्व एक आदर्श विचार-प्रवाह और मुक्त जीवन-दर्शन है। उसे जाति और कौम का रूप देना भयानक भूल है। भगवान् महावीर ने वर्ण व्यवस्था और ज़ातिवाद पर आधारित समाज पद्धति को कभी भी महत्त्व नहीं दिया। इस दिशा में आज एक बहुत बड़ी क्रांति की आवश्यकता है। जैन महाजनों व वैश्यों का धर्म है आम जनता में फैली हुई इस भ्रांत-धारणा को जड़ से उखाड़ने का प्रयास करना चाहिए। अनेक जैन आचार्यों ने इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया था, किंतु आज पुनः सारे वातावरण में एक गहरी कुंठा और रूढ़िवाद का आवरण छा रहा है।

## सह-अस्तित्व का सन्देश

आज संसार बहुत छोटा हो गया है। वैज्ञानिक साधनों के प्रभाव से बाहर की दूरी तेजी से सिमटती जा रही है। पृथ्वी को विभिन्न गोलार्द्धों में विभक्त करने वाले समुद्र और पहाड़ भी मानव की शक्ति के आगे हतप्रभ हो रहे हैं, किंतु विश्व के कोने-कोने में फैली हुई शीत युद्ध की लहरें बाहरी जीवन की इस विकटता को सबल चुनौती दे रही है। इस स्थिति में भगवान महावीर के सह-अस्तित्व-विरोधी विचारों के प्रति उदार और सहिष्णु बनने के संदेश की आज महती आवश्यकता है।

वैज्ञानिक लोगों ने संसार के नष्ट होने की नाना प्रकार की कल्पनाएं की हैं। उनमें पुच्छल तारा का पृथ्वी से टकराना, सूर्य का ठण्डा हो जाना व धरती से जहरीली गैस का निकलना आदि प्रमुख हैं, किंतु राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय क्षितिज में छाए हुए संदेह, संघर्ष और घृणा के काले बादल विश्व के विनाश और महाप्रलय के उनसे भी अधिक भयावह कारण हैं। जब तक मानव-मानव के मन में सह-अस्तित्व और सद्भावना के बीज अंकुरित नहीं होंगे तब तक इन कारणों का प्रतिकार नहीं हो सकता।

भगवान महावीर ने कहा था—

**एवं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं**
**अहिंसा समयं चेव एयावन्तं वियाणिया।।**

ज्ञान का फलितार्थ सब जीवों के प्रति मैत्री का विकास है। अहिंसा और समता सबसे बड़ा विज्ञान है। आकाश में चांद और सूरज दोनों चमकते हैं, किंतु पहला अहिंसा और सह-अस्तित्व की भावना का पालन करता है, दूसरा खण्डन। अतः विजय और सफलता चांद को मिलती है, सूरज को नहीं। इस प्रसंग को एक विस्तृत रूपक की भाषा में समझा जा सकता है, जो केवल एक कवि की कल्पना पर आधारित है।

## चांद की जीत और सूरज की हार

महापौर के चुनाव में चांद और सूरज की सीधी टक्कर थी। 'मेरे सामने चांद जीत नहीं सकता, विजय का सेहरा मेरे सिर पर बंधेगा'— सूरज को यह दृढ़ विश्वास था, किंतु धीरे-धीरे परिस्थितियां बदल रही थीं, वातावरण चांद के अनुकूल हो रहा था। सूरज के लिए यह महान चुनौती थी। उसने घर-घर व्यक्तिगत संपर्क साधना शुरू किया। अचानक एक कवि से उसकी भेंट हो गई—'कविवर! आपका मत तो मुझे निश्चित रूप से मिलेगा ही'—सूरज ने विश्वास के साथ उससे कहा। कवि ने कहा—'रुपए लेकर किसी को धोखा देना मानवता का घोर अपमान है। मैं स्पष्टवादी हूं, आप चाहे जो समझें, मेरा मत आपको नहीं, चांद को मिलने वाला है। सूरज विस्मय में डूबा जा रहा था। मेरे सामने चांद को वोट...?

सूरज—'कवि! मैं दिन का राजा हूं। अभिनव प्रकाश देने वाला हूं। मैं नहीं होता तो संसार की क्या दशा होती, क्या नहीं जानते तुम?

**तिमिर लहरी गुर्वी मुर्वी करोतु विकस्वराम,**
**हरतु नितरां निद्रामुद्रां क्षणात्, भविनां क्षणात्।**
**तदपि तरणे! तेजःपुंजस्तवैष न रोचते,**
**किमिति तिरयन् ज्योतिश्चक्रं स्वजाति विराजितम्।।**

## पर्दे के उस पार

मैं ढूंढ़ रहा था भगवान को। भगवान ढूंढ़ रहे थे मुझे।
अकस्मात हम दोनों मिल गए।
न तो वे झुके और न मैं भी झुका।
वे मुझसे बड़े नहीं थे, मैं उनसे छोटा नहीं था।
पर्दा मुझे उनसे विभक्त किए हुए था।
वह हटा और मैं भगवान हो गया।

'सूर्य देवते! विश्व को आपकी ज़ो देन है वह किसी से छुपी हुई नहीं है। आप महान प्रकाश-पुंज हैं। जन-जन को जागृति का नव-संदेश देना आपका सहज धर्म है, किंतु–'आपके जीवन में सह-अस्तित्व का अभाव है। 'सब खत्म हो जाओ, छुप जाओ, मेरे शासनकाल में किसी दूसरे को चमकने का अधिकार नहीं है'– आपके शासन का प्रारंभ इसी नारे के साथ होता है। तारे, ग्रह, नक्षत्र और छोटे-मोटे अपने सजाति बंधुओं को आप चमकते हुए नहीं देख सकते, किंतु रात का राजा चांद अपने पारिवारिक सदस्यों व साथियों को चमकने का व विकास करने का मुक्त अवसर प्रदान करता है।

सूरज मौन था। उसकी आंखें जमीन में गड़ी जा रही थी। उसने धीरे से कहा–'कविवर! यदि आप मेरी और कोई दुर्बलता बताते तो मैं उसे दूर करने का प्रयत्न करता, किंतु इसका तो मैं कायल हूं। मैं अपने शासनकाल में अपने सिवाय किसी दूसरे को चमकता हुआ नहीं देख सकता।'

'उस स्थिति में मेरा मत भी आपको नहीं मिल सकता।'–कवि ने बड़ी दृढ़ता से कहा।

सूरज मौन भाव से आगे बढ़ रहा था। कवि ने पीछे से आवाज देते हुए कहा–'सूर्य देवते! जरा गंभीरता से विचार करो। समय का प्रवाह बहुत तेजी से बदल रहा है। जनता में आपके प्रति विद्रोह की लहर दौड़ रही है।, कोई भी आपको देखना नहीं चाहता। आंखें भूल-चूक कर आपकी ओर यदि चली भी जाती हैं तो वापस मुड़ जाती हैं, किंतु चंद्रमा के दर्शन से सबको अपार हर्ष का अनुभव होता है।

सूरज के पास इन सारी स्थितियों का कोई भी उत्तर नहीं था। चुनाव संपन्न हो चुका था। चुनाव अधिकारी को आज सबके सामने परिणाम सुनाना था, जनता में उत्साह का समुद्र उमड़ रहा था। उसने सबके सामने घोषणा की–'चांद की जीत और सूरज की हार।'

सह-अस्तित्व के महत्त्व को प्रकट करने वाला एक रूपक मात्र है। अध्यात्म दर्शन की भूमिका पर हमें इसकी वास्तविकता को समझने की आवश्यकता है। इसके आधार पर सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय विवाद और संघर्ष स्वतः समाप्त हो सकते हैं।

जैन समाज में परस्पर अभी भी सामाजिक वैमनस्य के अंकुर देखे जा रहे हैं। भगवान महावीर की जयंती के महान पर्व के अवसर पर हमें उन्हें नष्ट करने का संकल्प करना चाहिए व उस महापुरुष के संदेश के प्रति हमारा क्या कर्तव्य है, उसे समझकर संगठित रूप से पूरा करने का प्रयास करना चाहिए। □

# भगवान महावीर वीतराग व्यक्तित्व

## डॉ. हुक्मचन्द भारिल्ल

भगवान महावीर के आकाशवत और विशाल सागर से गंभीर व्यक्तित्व को बालक वर्द्धमान की बाल-सुलभ क्रीड़ाओं से जोड़ने पर हमें चिंतन करना चाहिए कि ऐसा करने से उनकी गरिमा बढ़ती है या खंडित होती है? 'सन्मति' शब्द का कितना भी महान अर्थ क्यों न हो, वह केवलज्ञानी की विराटता को अपने में नहीं समेट सकता। केवलज्ञानी के लिए सन्मति नाम छोटा ही पड़ेगा, ओछा ही रहेगा। वह केवलज्ञानी की महानता व्यक्त करने में समर्थ नहीं हो सकता। जिनकी वाणी एवं दर्शन ने अनेकों की शंकाएं समाप्त की हों, अनेकों को सन्मार्ग दिखाया हो, सत्पथ में लगाया हो, उनकी महानता को किसी एक की शंका को समाप्त करने वाली घटना कुछ विशेष व्यक्त नहीं कर सकती।

बढ़ते तो अपूर्ण हैं। जो पूर्णता को प्राप्त हो चुका हो—उसे 'वर्द्धमान' कहना कहां तक सार्थक हो सकता है? इसी प्रकार महावीर की वीरता को सांप और हाथी वाली घटनाओं से नापना कहां तक संगत है? यह विचारने की बात है। यद्यपि महावीर के जीवन संबंधी उक्त घटनाएं शास्त्रों में वर्णित हैं, तथापि वे बालक वर्द्धमान को वृद्धिंगत बताती हैं, भगवान महावीर को नहीं। सांप से न डरना बालक वर्द्धमान के लिए गौरव की बात हो सकती है, हाथी को वश में करना राजकुमार वर्द्धमान के लिए प्रशंसनीय कार्य हो सकता है, भगवान महावीर के लिए नहीं। आचार्यों ने उन्हें यथास्थान ही इंगित किया है। वन-विहारी पूर्ण अभय को प्राप्त महावीर सर्वस्वातंत्र्य के उद्घोषक तीर्थंकर भगवान महावीर के लिए सांप से न डरना, हाथी को काबू में रखने का क्या महत्त्व है?

महावीर के वर्द्धमान, वीर, अतिवीर आदि नाम उन्हें उस समय दिए गए थे—जब वे नित्य बढ़ रहे थे, सन्मति (मति-ज्ञान) थे, बालक थे, राजकुमार थे। उन्हीं घटनाओं और नामों को लेकर तीर्थंकर भगवान महावीर को समझना चाहें तो यह हमारी बुद्धि की ही कमी होगी, न कि लिखने वाले आचार्यों की। वे नाम, वीरता की चर्चाएं यथासमय सार्थक थीं।

तीर्थंकर महावीर के विराट व्यक्तित्व को समझने के लिए हमें उन्हें विरागी-वीतरागी दृष्टिकोण से देखना होगा। वे धर्मक्षेत्र के वीर, अतिवीर और महावीर थे, युद्धक्षेत्र के नहीं। युद्धक्षेत्र और धर्मक्षेत्र में बहुत बड़ा अंतर है। युद्धक्षेत्र में शत्रु का नाश किया जाता है और धर्मक्षेत्र में शत्रुता का। युद्धक्षेत्र में पर को जीता जाता है और धर्मक्षेत्र में स्वयं को। युद्ध क्षेत्र में पर को मारा जाता है और धर्मक्षेत्र में अपने विकारों को।

महावीर की वीरता में दौड़-धूप नहीं, उछल-कूद नहीं, मारकाट नहीं, हाहाकार नहीं, अनंत शांति है। उनके व्यक्तित्व में वैभव की नहीं, वीतराग-विज्ञान की विराटता है।

जब-जब यह कहा जाता है कि महावीर का जीवन घटना-प्रधान नहीं है, तब उसका आशय यही होता है कि दुर्घटना-प्रधान नहीं है, क्योंकि तीर्थंकर के जीवन में आवश्यक शुभ घटनाएं तो पंचकल्याणक ही हैं। वे तो महावीर के जीवन में घटी ही थीं। दुर्घटनाएं-घटना कोई अच्छी बात तो है नहीं कि जिनके घटे बिना जीवन ही न रहे और एक बात यह भी तो है कि दुर्घटनाएं या तो पाप के उदय से घटती हैं या पाप भाव के कारण। जिनके जीवन में न पाप का उदय हो और न पाप भाव हो, तो फिर दुर्घटनाएं कैसे घटेंगी?

अनिष्ट संयोग पाप के उदय के बिना संभव नहीं है तथा वैभव और भोगों में उलझाव पाप के सद्‌भाव में घटने वाली घटनाओं में है। शादी एक ऐसी दुर्घटना है, जिसके घट जाने पर दुर्घटनाओं का कभी न समाप्त होने वाला सिलसिला आरंभ हो जाता है। सौभाग्य से महावीर के जीवन में यह दुर्घटना न घट सकी। (दिगम्बर मान्यता) एक कारण यह भी है कि उनका जीवन घटना-प्रधान नहीं है।

लोग कहते हैं कि बचपन में किसके साथ क्या नहीं घटता, किसके घुटने नहीं फूटते, किसके दांत नहीं टूटते? महावीर के साथ भी निश्चित रूप से यह सब कुछ घटा ही होगा, भले ही आचार्यों ने न लिखा हो, पर बचपन तो आया था, पर बचपना उनमें नहीं था, अतः घुटने फूटने और दांत टूटने का सवाल ही नहीं उठता। वे तो बचपन से ही सरल, शांत एवं चिंतनशील व्यक्तित्व के धनी थे। उपद्रव करना उनके स्वभाव में ही न था और बिना उपद्रव के दांत टूटना, घुटने फूटना संभव नहीं।

कुछ लोगों का कहना यह भी है कि न सही बचपन में, पर जवानी तो घटनाओं का ही काल है। जवानी में तो कुछ न कुछ घटा ही होगा, पर जवानी में दुर्घटनाएं उनके साथ घटती हैं, जिन पर जवानी चढ़ती है। महावीर तो जवानी पर चढ़े थे, जवानी उन पर नहीं। जवानी चढ़ने का अर्थ है—यौवन संबंधी विकृतियां उत्पन्न होना और जवानी पर चढ़ने का तात्पर्य शारीरिक सौष्ठव का अपूर्वता को प्राप्त होना।

राग संबंधी विकृति भोगों में प्रकट होती है और द्वेष संबंधी विद्रोह में। न वे रागी थे, न द्वेषी, अतः न वे भोगी थे और न ही विद्रोही।

वीतरागी-पथ पर चलने वाले विरागी महावीर को समझने के लिए उनके अंतर में झांकना होगा। उनका वैराग्य देशकाल की परिस्थितियों से उत्पन्न नहीं हुआ था, उसके कारण उनके अन्तरंग में विद्यमान थे। उनका वैराग्य परोपजीवी नहीं था। जो वैराग्य किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होता है, वह क्षणजीवी होता है। परिस्थितियों के बदलते ही उसका समाप्त हो जाना संभव है।

यदि देश-काल की परिस्थितियां महावीर के अनुकूल होती तो क्या वे वैराग्य धारण न करते, गृहस्थी बसाते, राज्य करते? नहीं, कदापि नहीं। फिर परिस्थितियां उनके प्रतिकूल थीं ही कब? तीर्थंकर महान पुण्यशाली महापुरुष होते हैं, अतः परिस्थितियों का उनके प्रतिकूल न होना असंभव नहीं है।

माना कि महावीर का अंतर विशुद्ध था, अतः घर में कुछ न घटा, पर वन में तो घटा ही होगा? हां! हां!! अवश्य घटा था, पर लोग जिस घटने को घटना मानते हैं वैसा कुछ नहीं घटा था। राग-द्वेष घट गए थे, तब तो वे वन को गए ही थे। क्या राग-द्वेष का घटना कोई घटना नहीं है? पर बहिर्मुखी दृष्टिवाले को राग-द्वेष घटने में कुछ घटता-सा नहीं लगता। तिजोरी में से लाख रुपया घटता-सा नहीं लगता। तिजोरी में से लाख, दो लाख रुपया घट जाएं, शरीर में से कुछ खून घट जाए तो इसे घटना नहीं कहा जाता।

वन में ही तो महावीर रागी से वीतरागी बने थे, अल्पज्ञानी से पूर्णज्ञानी बने थे। सर्वज्ञता और तीर्थंकरत्व वन में ही तो पाया था। क्या घटनाएं छोटी हैं? इनसे बड़ी भी कोई घटना हो सकती है। मानव से भगवान बन जाना कोई छोटी घटना है? पर जगत को तो इसमें कोई घटना सी ही नहीं लगती। तोड़-फोड़ की रुचि वाले जगत को तोड़-फोड़ में ही घटना नजर आती है; अंतर में शांति से जो कुछ घट जाए, उसे वह घटना सी नहीं लगती। अंतर में जो कुछ प्रतिपल घट रहा है वह तो उसे दिखाई नहीं देता, बाहर में कुछ हलचल हो तभी कुछ घटा-सा लगता है।

जब तक देवांगनाएं लुभाने को आएं और उनके लुभाने पर भी कोई महापुरुष न डिगे, तब तक हमें उसकी वीतरागता में शंका बनी रहती है। जब तक कोई पत्थर न बरसाए, उपद्रव न करे और उपद्रव में भी कोई महात्मा शांत न बना रहे, तब तक हमें उसकी वीतद्वेषता समझ में नहीं आती।

यदि प्रबल पुण्योदय से किसी महात्मा के इस प्रकार के प्रतिकूल संयोग न मिलें तो क्या वह वीतरागी और वीतद्वेषी नहीं बन सकता? क्या वीतरागी और वीतद्वेषी बनने के लिए देवांगनाओं का डिगाना और राक्षसों का उपद्रव करना आवश्यक है? क्या वीतरागता इन घटनाओं के बिना प्राप्त और संप्रेषित नहीं की जा सकती? क्या मेरे क्षमाशील होने के लिए सामने वालों का मुझे सताना, गाली देना जरूरी है? क्या उनके सताए बिना मैं शांत नहीं हो सकता? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो बाह्य घटनाओं की कमी के कारण महावीर के चरित्र में रूखापन मानने वालों और चिंतित होने वालों के लिए विचारणीय हैं।

महावीर के साथ वन में क्या घटा था? वन में जाने से पूर्व ही महावीर बहुत कुछ तो वीतरागी हो ही गए थे, रहा-सहा राग भी तोड़, पूर्ण वीतरागी बनने चल पड़े थे। उन्होंने सब कुछ छोड़ा था, कुछ ओढ़ा न था। वे साधु बने नहीं, हो गए थे। साधु बनने में वेष पलटना पड़ता है, साधु होने में स्वयं ही पलट जाता है। वस्तुतः साधु की कोई ड्रेसों का त्याग ही साधु का वेष है। ड्रेस बदलने से साधुता नहीं आती, साधुता आने पर ड्रेस छूट जाती है।

साधुता बंधन नहीं है, उसमें सर्व बंधनों की अस्वीकृति है। साधु का कोई वेष नहीं होता, नग्नता कोई वेष नहीं, वेष साज-श्रृंगार है, साधु को सजने-संवरने की फुरसत ही कहां है? उसका सजने का भाव ही चला गया है। सजने में 'मैं दूसरों को कैसा लगता हूं?' का भाव प्रमुख रहता है। साधु को दूसरों से प्रयोजन ही नहीं है, वह जैसा है—वैसा ही है।

महावीर मुनिराज वर्द्धमान नगर छोड़ वन में चले गए, पर वे वन में भी कहां रहे? वे तो आत्मवासी हैं। न उन्हें नगर से लगाव है, न वन से, वे तो दोनों से अलग हो गए हैं, उनका तो पर से अलगाव ही अलगाव है।

रागी वन में जाएगा तो कुटिया बनाएगा, वहां भी घर बनाएगा, ग्राम और नगर बसाएगा, भले ही उसका नाम कुछ भी हो, है तो वह घर ही। रागी वन में भी मंदिर के नाम पर महल बनाएगा, महलों में भी उपवन बनाएगा। वह वन में रहकर भी महलों को छोड़ेगा नहीं, महल में रहकर भी वन को छोड़ेगा नहीं।

उनका चित्त जगत के प्रति सजग न होकर आत्म-निष्ठ हो गया था। देश-काल की परिस्थितियों के कारण उन्होंने अपनी वासनाओं का दमन नहीं किया था। उन्हें दमन की आवश्यकता भी न थीं, क्योंकि वासनाएं स्वयं अस्त हो चुकी थीं।

उन्होंने सर्वथा मौन धारण कर लिया था, उनको बोलने का भाव भी न रहा था। वाणी पर से जोड़ती है, उन्हें पर से जुड़ना ही न था। वाणी विचारों की वाहक है, वह विचारों का आदान-प्रदान करने में निमित्त है, वह समझने-समझाने के काम आती है, उन्हें किसी को समझाने का राग भी न रहा था, अतः वाणी का क्या प्रयोजन। वाणी उन्हें प्राप्त थी पर वाणी की उन्हें आवश्यकता ही न थी।

एक अघट घटना महावीर के जीवन में अवश्य घटी थी। दीपावली के दिन वे घट (देह) से अलग हो गए थे; अघट हो गए थे, घट घट के वासी होकर भी घटवासी भी न रहे थे, गृहवासी और वनवासी तो बहुत दूर की बात है, अन्तिम घट (देह) को भी त्याग कर मुक्त हो गए थे।

इस प्रकार जगत से सर्वथा अलिप्त, संपूर्णतः आत्मनिष्ठ महावीर के जीवन को समझने के लिए उनके अंतर में झांकना होगा कि उनके अंतर में क्या कुछ घटा? उन्हें बाहरी घटनाओं से नापना, बाहरी घटनाओं से बांधना संभव नहीं है। यदि हमने उनके ऊपर अघट-घटनाओं को थोपने की कोशिश की तो वास्तविक महावीर तिरोहित हो जाएंगे, वे हमारी पकड़ से बाहर हो जाएंगे, और जो महावीर हमारे हाथ लगेंगे, वे वास्तविक महावीर न होंगे, तेरी-मेरी कल्पना के महावीर होंगे। यदि हमें वास्तविक महावीर चाहिए तो उन्हें कल्पनाओं के घेरों में न घेरिए, उन्हें समझने का यत्न कीजिए, अपनी विकृत कल्पनाओं को उन पर थोपने की अनधिकार चेष्टा मत कीजिए। ❑

# समय का मूल्य

✧ ✧ ✧

**प्रोफेसर जमनालाल बायती**

सफलता कौन नहीं पाना चाहता? आप भी सफलता-प्राप्ति के लिए मार्ग पर चल रहे हैं और सफलता पाने की इच्छा भी रखते हैं। क्या आप जानते हैं कि सफलता की कीमत चुकानी पड़ती है? और हां, वह भी अग्रिम। तो जानिए, यह कीमत है कठोर परिश्रम। व्यवहार में आप देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने भरण पोषण के लिए काम करता है— निश्चित रूप से आठ घंटे। महत्त्वपूर्ण यह है कि अपने इन आठ घंटों की आप क्या और कैसे व्यवस्था करते हैं। ऐसा नहीं करने पर तुलसी का यह कथन व्यवहृत हो जाता है कि 'दिवस जात नहीं लागहि बारा।' अतः अस्तित्व बनाए रखने के लिए तथा सफलता के साथ काम करने में अंतर देखिए—

## विचारपूर्ण प्रबन्धन :

आदमी प्रायः शिकायत करते पाए जाते हैं कि उन्हें यदि कुछ समय और मिलता तो वे आश्चर्यजनक सफलताएं प्राप्त कर लेते और अनेक काम कर लेते। ऐसी शिकायत करने वाले सही मानिए समय का उपयुक्त प्रबंधन नहीं करते हैं। इसके लिए सीधा-सादा यह कारण बताया जाता है कि वे अपने कार्यों की कोई योजना नहीं बनाते और यदि योजना बना भी लें तो दृढ़ता से उसका पालन नहीं करते। इसीलिए वाल्टर जड कहते हैं कि आज मनुष्य इतना अधिक सजग हो गया है कि वह अपने सिवाय अन्य सभी वस्तुएं या प्रकृति को भी नियंत्रित कर लेता है। ऐलेक मेकेंजी इससे भी एक कदम आगे बढ़कर कहते हैं कि 'समय एक अनोखा साधन है। समय सबको बराबर मात्रा में मिला हुआ है, फिर भी कुछ लोग शिकायत करते हैं कि उनके पास समय की कमी है, जबकि अन्य लोग इसी बहुत कम समय में ढेरों काम निबटा देते हैं। वे समाज के लिए भी काम करते हैं, उसके कामों में मदद करते हैं, अपने निजी पारिवारिक दायित्व भी निबटाते हैं। समय का विवेकपूर्ण उपयोग किया जाना चाहिए। चलती हुई घड़ी का कांटा तो आप रोक नहीं सकते, पर आप अपना-अपने कार्यों का प्रबंधन तो कर ही सकते हैं।

प्रायः लोग समय की बरबादी के लिए बाहरी कारणों को जिम्मेदार मानते हैं। यदि समय की बरबादी के लिए अनिश्चय की स्थिति, असुरक्षा, स्वानुशासन की कमी, महत्त्वहीन बहाने तथा विलंब करने की आदत के रूप में मनुष्य को ही उत्तरदायी ठहराया जाए तो कोई त्रुटि नहीं की जा रही है। इसीलिए बेकन ने कहा है कि 'समय चुनना समय बचाना है।'

प्रत्येक प्रबंधक अपने दिन भर का कार्यक्रम वैज्ञानिक तरीके से तय करता है, पर वे उस कार्यक्रम का पालन नहीं कर पाते, प्रायः बुरी तरह असफल हो जाते हैं। क्या आप नहीं जानते हैं कि हम में कई टोम जैसे अपराधी टिके हुए हैं, जो योजनाओं के क्रियान्वयन तथा नियंत्रण करने के लिए उत्तरदायी हैं।

कार्यों को न निबटाने या उन पर निर्णय न लेने के लिए सदैव ही समय की कमी नहीं बताई जा सकती, पर हां, यहां समय के महत्त्व पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। इसके उपचार के लिए या इससे बचने के लिए आवश्यक है कि आप टोम न बनें, आप टोम को पहचानें तथा उसकी उपस्थिति न्यूनातिन्यून कर दें। आप आश्वस्त हो

लीजिए कि समय के प्रबंधम में आप सजग हैं। इसीलिए कहा है कि 'करोड़ों स्वर्ण मुद्राएं देकर भी आयु का एक क्षण भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में ऐसे बहुमूल्य क्षण को जो व्यर्थ बिताता है, उस मनुष्य-रूपी पशु को दूर से ही नमस्कार है।

## काम टालना :

प्रायः मनुष्य काम टालने के विचार से बुरी तरह जकड़े रहते हैं। यही एक ऐसा तथ्य है, जिसे रोग और लक्षण दोनों ही कहा जा सकता है। ऐलेक मेकेंजी टिप्पणी करते हैं कि 'काम टालना अक्षमता या अयोग्यता का निकट का संबंध है। जो आदमी काम टालने की आदत बना लेते हैं, वे दूसरों को बाधा पहुंचाते हैं और इसीलिए वे अपने कामों में दूसरों की बाधाएं आमंत्रित करते हैं। 'उपचार खोजिए, निदान आरंभ कीजिए, यही सर्वाधिक संवेदनशील तथा कोमल कार्य है। क्या आप काम टालते रहे हैं? कई बार मनुष्य अपनी अचेतनावस्था में बैठे डर के कारण काम करने से बचना चाहते हैं और काम टालते रहते हैं। यह असफल होने या अज्ञानी होने या उपहास का पात्र होने का डर हो सकता है। यह भी संभव है कि यह अज्ञात भय हो। जो भी विचार दिमाग में आएं उन्हें एक के बाद एक क्रमबद्ध किसी कागज पर लिखते चलिए। समय ही एक ऐसा स्रोत है जो काम की मात्रा को कम कर देता है तथा आपको शक्ति से भर देता है, आप स्फूर्त–चुस्त एवं प्रसन्नचित्त बन जाते हैं।

काम कब किया जाए– इस डर से आप पकड़े जा सकते हैं या शिकार हो सकते हैं। किसी प्रायोजना के अधिक विस्तार से वह विकट हो सकता है या बेकाबू हो सकता है। उस प्रायोजना को छोटे-छोटे उपभागों में बांट लीजिए, जिनका प्रबंधन सरलता से हो सके तथा प्रत्येक भाग अपने आप में पूर्ण भी हो। इस प्रकार सभी उपभाग मिलकर कार्य का पूर्ण या समग्र रूप भी बन सकेंगे। कार्य के सभी उपभागों की सूची बनाइए, जो मिलकर कार्य का पूर्ण रूप ले सके। प्रत्येक काम के उपभाग के लिए एक समय सीमा तय कर दीजिए।

## उद्देश्य निर्धारित करना :

व्यवहार में देखा जाता है कि सभी व्यक्ति महत्त्वाकांक्षी होते हैं, पर स्वयं उन्हें पता नहीं होता है कि वे क्या चाहते हैं? वे अपने कार्यों तथा उद्देश्यों में स्पष्ट नहीं होते हैं। आपका पहला कार्य यह होना चाहिए कि आप अपने उद्देश्यों का निर्धारण कर लें। उद्देश्य विशिष्ट तथा स्पष्ट होने चाहिए तथा वे प्राप्त किए जाने योग्य भी हों। संबंधित व्यक्ति का उनमें विश्वास होना चाहिए। इससे व्यक्ति को करणीय गति तथा स्तर निश्चित करने में मदद मिलती है। समयसीमा-हीन कोई भी उद्देश्य निरर्थक है, व्यर्थ हैं। इसलिए काम निबटाने के लिए समय-सीमा आवश्यक है। उद्देश्यों या लक्ष्यों को दूरगामी तथा तात्कालिक उद्देश्यों में बांट लेना चाहिए। जहां तात्कालिक उद्देश्य दैनंदिन कार्य का संचालन करते हैं, वहीं दूरगामी उद्देश्य कार्य की गंभीरता का ज्ञान कराते हैं, प्रयोजन का अनुभव कराते हैं। उद्देश्यों की प्राप्ति से संतोष तथा गर्व का अनुभव होता है। हम में से प्रत्येक को याद रखना चाहिए कि अपरिहार्य बनने का कार्य निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है।

सफलता के लिए बहुलांश में प्रयत्न ही उत्तरदायी होते हैं, पर सफलता के साथ गुणवत्ता का भी निर्वाह किया जाना चाहिए। गुणवत्ता की खोज ही मदद करती है कि आप कितनी छलांग लगाएं तथा वह भी कितनी लंबी। व्यवहार में देखा जाता है कि किसी भी स्थिति के लिए आप स्वयं उत्तरदायी है। इसके विपरीत गैर-जिम्मेदार व्यक्ति स्थिति पर नियंत्रण नहीं कर पाता है या स्थिति पर काबू खो देता है। ऐसे व्यक्ति अपना मुंह बचाने के लिए दूसरों को दोष देते हैं तथा टालने की दृष्टि से महत्त्वहीन कारण प्रस्तुत करते हैं। केवल खोने या हारने वाले ही असफल होने की सोचते हैं, जबकि विजेता तो सदैव ही सफलताओं को क्षणिक घटनाएं मानते हैं।

समय निश्चय ही नाशवान, पर निरंकुश घटक है तथा इसे फिर से प्राप्त नहीं किया जा सकता, न ही

इसे आगे के लिए सुरक्षित रखा जा सकता है तथा न ही खरीदा जा सकता है। समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। समय कीमती है, अति अल्प है। इसका सही उपयोग कीजिए। जैसा कि चेपलीन टेल्स कहते हैं– 'समय बेलचीला तथा निवेदन पर घटने–बढ़ने वाला नहीं है।' पीटर ड्रकन की राय में 'समय अत्यल्प साधन है। यदि इसका प्रबंधन नहीं किया गया तो फिर किसी का भी प्रबंध नहीं हो सकता।'

## प्रबंधन में समय लगाना :

यह जरूरी है कि करणीय तथा प्रबंध, गतिविधियां या कार्यक्रम तथा फल, व्यस्त लगना या दीखना तथा प्रभावी बनना, विवेचन तथा व्यूह रचना आदि में अंतर स्पष्ट किया जाए। प्रबंधन की दृष्टि से नीचे मुख्य-मुख्य वे बातें लिखी जा रही हैं जो समय नष्ट करती हैं–

1. प्राथमिकताओं का अभाव। 2. अस्पष्ट उद्देश्य का लक्ष्य। 3. प्रत्यायोजन की असफलता। 4. पत्रावलियों की निम्न स्तरीय व्यवस्था। 5. बिना समय का ध्यान रखे विवेचन में खो जाना। 6. कागजी निरर्थक कार्यवाही। 7. अधीनस्थों का अधि-प्रबंधन। 8. समय का वास्तविक से परे अनुमान।

ऊपर के इन दोषों को दूर करने के लिए आप निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार कर सकते हैं। इससे आप समय का बेहतर उपयोग कर सकेंगे—

1. उद्देश्यों को स्पष्ट लिपिबद्ध कर लीजिए। 2. अपने कार्य के प्रति उत्साहित रहिए। 3. नम्रता एवं शालीनता के साथ 'नहीं' कहना सीखिए। 4. बार-बार समय की गणना न कीजिए। 5. प्रथम बार से ही सही तथा विश्वास के साथ प्रयत्न कीजिए। 6. चयनित सामग्री पढ़िए। 7. भोजनावकाश में मित्रों का साथ देने का प्रयत्न कीजिए। 8. सोचने तथा कार्य-योजना बनाने के लिए एकांत खोजिए। 9. जो कहना हो, स्पष्ट कहिए, सुनने के लिए कान खुले रखिए। 10. सदैव किए गए कार्यों के प्रति फलों पर ध्यान दीजिए। 11. प्रतीक्षा के समय को वरदान मानिए। 12. अपने अधिकारों का प्रत्यायोजन कीजिए। 13. 'चाहिए' तथा 'अच्छा' में अंतर समझ लीजिए। 14. छल-प्रपंचों से दूर रहिए। इन सब बिंदुओं के अनुसार कार्य करने के लिए ठण्डे मस्तिष्क से सुनिश्चित एवं दृढ़-योजना बनाइए।

## कार्यकारी योजना-विधि :

सावधानी से प्राथमिकताएं निश्चित कीजिए। तत्परता एवं शीघ्रता का अवबोध विकसित कीजिए। कार्य निबटाने के लिए मन से उद्यत रहिए। कुछ समय आराम कीजिए या योजना इस प्रकार बनाइए कि आराम करने के लिए समय निकल सके। इससे आप शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ एवं तरोताजा रहेंगे। परिवार के सदस्यों के साथ भी कुछ समय बिताइए। अपने समय का विभिन्न कार्यों में उसी प्रकार आवंटन कीजिए जिस प्रकार एक कंजूस अपने रुपयों का करता है। समय ही धन है, यह सार तत्त्व है। ऐसा विचार करते समय गांधी जी के शब्द कानों में गूंजते रहते हैं–'जो समय बचाते हैं, वे धन बचाते हैं और बचाया हुआ धन कमाए हुए धन के बराबर है।' समय का प्रबंधन ही जीवन का प्रबंधन है। जो समय का पालन करता है और उसका ध्यान रखता है, उसे समय की कोई कमी नहीं होती और वे ही समय का महत्त्व भी समझते हैं। सफल व्यक्ति धन के लिए नहीं, बल्कि उत्कृष्टता के लिए काम करते हैं। कल्पना तथा नवाचार का साथ-साथ उपयोग आपको सफलता के मार्ग पर अग्रसर करता है।

यदि आप केवल समय का सही-सही एवं उपयुक्त प्रबंधन कर सकें तो आनंद मनाने के लिए आप अवकाश या फुरसत का समय भी निकाल सकेंगे। इसलिए आप अगली बार से समय पर काम निबटाना याद रखिए, निश्चित रूप से प्रत्येक समय तथा एक के बाद दूसरे समय भी। इस रचना की समाप्ति चेस्टर फिल्ड के इस उद्धरण से करनी उचित होगी –'मिनटों की चिंता करो, क्योंकि घंटे तो अपनी चिंता स्वयं कर लेंगे।' ❑

# स्वपुरुषार्थ से आत्मशुद्धि का प्रयोग : प्रतिक्रमण


## साध्वी स्वर्णरेखा


भारतीय संस्कृति अध्यात्मप्रधान संस्कृति है। यहां की मिट्टी के कण-कण में अध्यात्म का रस है, सद्भावना की महक है, मानवीयता के गगन में चारित्र की चांदनी फैलती रही है। संयम के बीज जिसकी नींव में डाले गए हैं, ऐसी तपोभूमि को ऋषि-मुनियों ने अपनी तपः साधना से सिंचित किया है। भारतवर्ष में पलने वाली अनेकानेक संस्कृतियों में जैन संस्कृति अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। त्याग एवं वैराग्यप्रधानता इस संस्कृति का आदर्श है। जैन-संस्कृति का प्राण तत्त्व हैं– प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण आत्मा को विमल-निर्मल बनाने की मौलिक विधा है, आध्यात्मिक जीवन की धुरी है, जीवन सुधार का उत्तम उपक्रम है, विभाव से स्वभाव की ओर तथा बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता की ओर जाने का मार्ग है। आत्मनिरीक्षण-आत्मपरीक्षण, आत्मोत्कर्ष का श्रेष्ठतम उपाय हैं। दोष देखकर उन्हें त्वरित गति से जानना एवं तत्क्षण उसका निराकरण कर आत्मा को शुद्ध निर्मल बनाना ही प्रतिक्रमण का आधारभूत मर्म है।

प्रतिक्रमण को सभी धर्म किसी न किसी रूप से स्वीकार करते हैं। वैदिक धर्म संध्या कर्म के रूप में अपनी पूजा करते हैं। पारसी मन से जो बुरे विचार, वाणी से तुच्छ भाषण, शरीर से जो घृणित कार्य किया उसके लिए पश्चात्ताप करता है तथा अपराध से अलग होकर पवित्र बनता है। मुस्लिम धर्म में पापों की शुद्धि के लिए दिन में पांच बार नमाज पढ़ने की पद्धति है, ईसाई धर्म में कन्फेशन अर्थात् पाप की स्वीकृति कर आचरित पापों को पोप या पादरी के समक्ष प्रायश्चित्त करने का विधान है, बौद्ध धर्म में प्रवारणा, पापदेशना नाम मिलता है।

हरिभद्रीय आवश्यक सूत्र में प्रतिक्रमण के अनेक पर्यायवाची नाम मिलते हैं। **प्रतिक्रमण**–आत्मशुद्धि के क्षेत्र में लौटना। **प्रतिसरण**–संयम साधना में अग्रसर होना। **प्रतिहरण**– अशुभ योगों का त्याग। **धारणा**– शुभ भावनाओं को धारण करना। **निवृत्ति**–अशुभ भावों से निवृत्त होना। **निंदा**–आत्मसाक्षी से अपने पापों की निंदा करना। **गर्हा**–गुरु साक्षी से पापों को प्रकट करना। **शुद्धि**–व्रतों में लगे दोषों की शुद्धि करना। प्रतिक्रमण आत्म-विकास आत्म-स्वातंत्र्य, आत्म समृद्धि का आधारस्तंभ है।

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—'शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतिक्रमणम्' शुभयोग से अशुभयोग में आए हुए को पुनः शुभयोग में लौटाने के लिए प्रतिक्रमण सशक्त माध्यम है। आवेश-आवेग में अज्ञानता के कारण जीव स्वस्थान से परस्थान में चला जाता है, किंतु प्रतिक्रमण द्वारा जीव को पुनः अपने स्थान पर प्रतिष्ठित किया जाता है। ज्ञान-दर्शन चारित्र पर लगे अतिचारों का शुद्धीकरण करना प्रतिक्रमण का उद्देश्य है। भव्यात्मा को ज्ञान-पिपासु बनकर स्वाध्याय का अवलंबन लेकर ज्ञानार्णव में डूबने का सतत प्रयास करना आवश्यक है। ज्ञान को आचरण में लाने पर ही प्रतिक्रमण का स्वरूप समझा जा सकता है। अतीत के जीवन का प्रामाणिकता पूर्वक सूक्ष्म निरीक्षण कर भविष्य में उसकी पुनरावृत्ति न करने का संकल्प ही प्रतिक्रमण है। साधक के जीवन में प्रमाद को विष स्वरूप माना है, जो अंदर ही अंदर साधना को विनष्ट कर देता है। प्रमाद को परिष्कृत करने, राग-द्वेष रहित करने, पाप कर्मों के निर्घात के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। जिससे साधक के जीवन में अप्रमत्त भावों की दिव्य ज्योति प्रकाशित हो उठती है। अज्ञान विनष्ट हो जाता है। यह आध्यात्मिक युद्ध ही वस्तुतः मुक्ति के साम्राज्य पर अधिकार करवा सकता है।

आचार्य मलयगिरि ने आवश्यक निर्युक्ति वृत्ति में दशविध कल्पों में प्रतिक्रमण को एक कल्प माना है। मन की छोटी-बड़ी सभी विकृतियां जो किसी न किसी रूप से पाप की श्रेणी में आती हैं, उनके प्रतिकार के लिए प्रतिक्रमण महौषधि है, पाप के प्रक्षालन की प्रक्रिया है। पापशल्य व्रतपालन में अवरोधक है। प्रतिक्रमण पाप के प्रक्षालन की क्रिया है। जैसे जलस्नान से शरीर का मैल धुलकर शरीर स्वच्छ होता है वैसे ही आत्मा के साथ लगी पाप क्रियाओं का कर्ममल धुल जाता है। साधक प्रतिक्रमण में अन्तर्निरीक्षण करता हुआ यही सोचता है कि मैं सम्यक्त्व के मार्ग को छोड़ मिथ्यात्व के ऊबड़-खाबड़ मार्ग में तो नहीं भटक रहा हूं। व्रतों की विस्मृति तो नहीं हो गई है। प्रमाद का सेवन तो नहीं किया है, कषाय के भयावह मार्ग में तो नहीं फंसा, इस प्रकार का चिंतन करते-करते तेजस्विता आने लगती है। सबसे पहले भाव चंचलता रुकती है, इंद्रियों का निग्रह बढ़ता है, चिंतन एवं ध्यान से चित्त एकाग्र होता है, जिससे कुशल साधक कायिक, वाचिक क्रिया से मन को स्थिर कर लेता है।

व्रतों में स्थिरता एवं दृढ़ता बनाए रखने का उपक्रम है—प्रतिक्रमण। ठाणं सूत्र में प्रतिक्रमण के छः भेद बताए—उच्चार प्रतिक्रमण, प्रस्रवण प्रतिक्रमण, इतर, यावत्कथित, यत्किञ्चितमिथ्या एवं स्वप्नान्तिक-प्रतिक्रमण। कालभेद से प्रतिक्रमण के तीन भेद—अतीत, वर्तमान और भविष्य। विशेष काल की अपेक्षा से पांच भेद—देवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और संवत्सरी। अनुयोगद्वार में आचरण की दृष्टि से दो भेद किए गए हैं—द्रव्य एवं भाव। द्रव्य प्रतिक्रमण उपयोग शून्य होकर पापों की आलोचना करना, पापों के प्रति ग्लानि के अभाव केवल वाचिक व्यापार होता है। भाव प्रतिक्रमण—कर्म निर्जरा की भावना से संकल्पपूर्वक, उपयोग सहित एकाग्रता के साथ किया जाता है। शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि प्रथम एवं अंतिम तीर्थंकर के समय दो समय प्रतिक्रमण करते थे, बीच के बाईस तीर्थंकर जब दोष लगे तभी प्रतिक्रमण करते थे, क्योंकि बीच के बाईस तीर्थंकर के शिष्य दृढ़ बुद्धिशाली, एकाग्रमन वाले, शुद्ध चारित्रधारी व ऋजु होते थे तथा प्रथम व अंतिम तीर्थंकर के शिष्य चंचल चित्त वाले, मोही, जड़बुद्धि वाले होते थे।

दसवैआलियं में बताया है—'खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य' आत्मा को परमात्मा बनने में सबसे बड़ी रुकावट है—कर्मों की शृंखला। संचित कर्म तप के द्वारा क्षय किए जा सकते हैं तथा नए आने वाले कर्मों को संवर द्वारा रोका जा सकता है। प्रतिक्रमण में छः आवश्यक हैं, उसमें प्रथम आवश्यक द्वारा संवर की साधना, द्वितीय एवं तृतीय आवश्यक में विनय तप की आराधना, चतुर्थ में प्रायश्चित्त, पांचवें में कायोत्सर्ग तथा छठे आवश्यक में संवर की साधना की जाती है। स्पष्ट है कि तप एवं संवर की आराधना जीवन को उच्च बनाने का श्रेष्ठ उपक्रम है।

तीन काल की साधना को उजागर करने वाला है—प्रतिक्रमण। अतीत में लगे दोषों की शुद्धि आलोचना द्वारा होती है, वर्तमान में संवर साधना में लगे रहने से पापों से निवृत्त होने की प्रबल भावना भाता है तथा प्रतिक्रमण में प्रत्याख्यान किया जाता है जिससे भावी दोषों से बचा जा सकता है। जिस प्रकार शरीर निर्वाह हेतु आहारादि किया जाता है उसी प्रकार आत्मा को सबल बनाने के लिए प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। प्रतिक्रमण का उच्चारण मंगलकारी है। जागृत साधक जागृत जीवन जीने के लिए जागृति की अवस्था में प्रतिक्रमण करता है।

प्रतिक्रमण आत्मसुधार का साधन है। एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। मन, वाणी कर्म को पश्चात्ताप की आग में डालकर व्यक्तित्व को निखारता है। मन, वाणी कर्म के संतुलन को कदापि अव्यवस्थित नहीं होने देता, निर्मल जीवन जीने के लिए इसी अध्याय से पश्चात्ताप की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। पश्चात्ताप का निर्झर आत्मा पर लगे हुए पापमल को बहाकर साफ कर देता है। हृदय में अपने आप का शोधन करने के लिए उत्साहित बनाए रखता है। प्रायश्चित्त साधक की स्वयं की अपनी तैयारी है। पैर में कांटा चुभ जाने से मनुष्य को चैन नहीं पड़ता, वेदना से संत्रस्त बन त्वरता के साथ कांटे को निकालता है। इसी तरह व्रत में अतिचार लग

जाने पर साधक प्रतिक्रमण के द्वारा शल्य को निकाल कर शांति पाता है। अध्यात्म जगत में दोष को भी रोग माना है तथा प्रायश्चित्त को चिकित्सा। चिकित्सा का उद्देश्य रोगी को कष्ट देना नहीं अपितु दोषमुक्त होना है। दोषमुक्ति के लिए प्रतिक्रमण रूपी चिकित्सा के द्वारा मानसिक विकृतियों को तत्काल परिमार्जित कर लेना परमावश्यक है।

प्रतिक्रमण से आठ प्रवचन माताओं के प्रति जागरूकता बढ़ती है, संयम के प्रति एकरसता बनी रहती है, समाधि की प्राप्ति होती है, अशुभ प्रवृत्ति से होने वाले चारित्र के धब्बे को समाप्त करने की कोशिश की जाती है। एक छोटा सा छिद्र पूरी नाव को डुबो देता है, वैसे ही व्रतों में लगे छेद जीवन को बर्बाद कर देते हैं। प्रतिक्रमण के द्वारा हम उन दोष रूपी छिद्रों को बंद करते हैं जिससे जीवन रूपी चद्दर पर लगे दाग-धब्बे दूर हो जाते हैं।

स्वपुरुषार्थ से स्वात्मशुद्धि का प्रयोग आंतरिक व्यक्तित्व के विकास की समग्रता को दर्शाता है। कुशल व्यापारी वही कहलाता है जो प्रतिदिन-सायंकाल दिनभर का हिसाब मिलाता है और अपने आय-व्यय को देखकर अपव्ययों पर रोक लगाता है, इसी प्रकार प्रतिक्रमण के द्वारा दिनभर की क्रियाओं का हिसाब देखा जा सकता है। यदि भावना की प्रकृष्टता के साथ अतिक्रमण किया जाता है, उत्कृष्ट रसायन आ जाता है तो जीव तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन कर लेता है। प्रतिक्रमण साधक जीवन की अपूर्व कला है। इसका प्रयोजन एवं परिणाम समस्त जीवयोनि से क्षमा तथा प्राणीमात्र से मैत्री भाव स्थापित करना है। निज चैतन्य भय सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चारित्र आत्मा की शुभ परिणति है जो संवर निर्जरा रूप है। तन का रोग अधिक से अधिक एक जन्म तक पीड़ा देता है, किंतु मन, भावों का रोग एक बार प्रारंभ हो जाने के बाद यदि व्यक्ति असावधान रहा तो हजारों ही नहीं, लाखों-लाखों जन्मों तक परेशान कर सकता है। अतः प्रतिक्रमण ऐसा हो जिससे पापों, दोषों, दुष्कृत्यों की इतिश्री हो जाए। ❑

---

# आत्मविश्वास

*अपने भाई के व्यवहार से तंग आकर 17 वर्ष की उम्र में बैंजामिन फ्रैंकलिन ने अपना शहर छोड़ दिया और बोस्टन से वह न्यूयार्क चले गए, फिर फिलाडेल्फिया। वहां उन्हें एक प्रेस में नौकरी मिल गई थी। नौकरी और स्वाध्याय के साथ-साथ वह सफल भावी जीवन की नींव रखते जा रहे थे।*

*इधर मां-बाप बड़े चिंतित थे। उनके बहनोई होम्स ने उनका पता-ठिकाना किसी तरह लगा ही लिया और आग्रह-भरा पत्र लिखा कि वे घर लौट आएं।*

*'मैं स्वतंत्र रूप से जीवन-यापन कर रहा हूं और प्रसन्न हूं।'*

*और अंत में उन्होंने लिखा—*

*'यदि परिश्रम, मितव्ययिता, मादक द्रव्यों से परहेज, ईमानदारी और अध्यवसाय सफल होते हैं, तो मैं जरूर सफल होऊंगा। आप चिंतित और निराश न हों।'*

*फ्रैंकलिन वापस नहीं लौटे। उन्हीं सद्गुणों के सहारे उन्होंने जीवन में खासी ख्याति और उपलब्धियां अर्जित कीं।*

# अंतस् में छिपे महावीर की खोज

मुनि पीयूष कुमार

महावीर के बारे में चर्चा करना स्वयं के बारे में चर्चा करने जैसा है। एक वो महावीर हैं जो तारीखों, घटनाओं और वंश परम्परा में बंधे हुए हैं, इतिहास का विषय है। यदि उनके बारे में चर्चा की जाए तो अनेक प्रकार के विवाद हो सकते हैं, चाहे वो वैवाहिक जीवन संबंधी हो अथवा दिगंबरत्व, श्वेतांबरत्व संबंधी। आंखों देखी घटनाओं के संदर्भ में भी विवाद पैदा हो जाते हैं। महावीर तो हमारे लिए अनदेखे हैं। वैसे देखा जाए तो अध्यात्म की साधना के लिए उद्यत व्यक्ति स्व को जाने, यह पर को जानने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है। इसलिए महावीर को भी हम इस तरह जानें कि उन्हें भी जान लिया जाए और स्वयं को भी जान लिया जाए।

महावीर में और हममें बाह्य स्वरूप की दृष्टि से अनेक असमानताएं हो सकती हैं, जो दो व्यक्तियों में होती ही हैं, जैसे—चेहरे की भिन्नता, शारीरिक संस्थान और संहनन की भिन्नता, नाम की भिन्नता, समय और क्षेत्र की भिन्नता आदि लेकिन आत्मा के मूल स्वरूप की दृष्टि से हम महावीर के समान हैं।

महावीर को हम अध्यात्म के शिखर पुरुष के रूप में देखते हैं। उनके लिए आमतौर पर जिन शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिन शब्द का अर्थ है विजेता। विजेता एक प्यारा शब्द है हम लोगों के लिए। कोई परीक्षा में विजेता होना चाहता है तो कोई खेल में, कोई व्यापार के क्षेत्र में तो कोई युद्ध में अथवा बहस में विजेता बनना चाहता है। विजेता होने के लिए इनमें से या इनके अतिरिक्त भी किसी क्षेत्र का चुनाव किया जा सकता है, परंतु किसी भी क्षेत्र में विजेता बनने का अर्थ है अन्य लोगों का हारना। विजेता बनने के लिए प्रतिस्पर्द्धा की भावना, तनाव तथा कहीं-कहीं दूसरों को गिराने की कला भी काम में ली जाती है। इतना सबकुछ करके भी जो जीत मिलती है वह शाश्वत नहीं होती। थोड़े ही समय बाद उस जीत का रंग फीका पड़ जाता है और दूसरी प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो जाती है। मगर महावीर के जीवन में हमें न तो प्रतिस्पर्द्धा दिखाई देती है, न तनाव, न किसी को गिराने की प्रवृत्ति। सबकुछ बेहद शांत, निस्तब्ध-सा दिखता है मानो किसी और से नहीं बल्कि स्वयं से ही बोल रहे हों। इसे 'स्वयं से बोलना' कहना भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वहां परम मौन का साम्राज्य है, वाचिक भी और मानसिक भी। बिना किसी द्वंद्व के मिलने वाली इस विजय के पश्चात् कोई चाह शेष नहीं रहती। अजिन-जिन बन सकता है परंतु जिन को अजिन बनने का कोई उपाय नहीं है, इस मायने में यह शाश्वत विजय है। चूंकि आत्मा के मूल स्वरूप की दृष्टि से हम महावीर के समान हैं, अतः यह कहना भी अनुपयुक्त नहीं होगा कि हम सभी में विजेता के गुण स्वाभाविक तौर पर विद्यमान हैं। लेकिन जब तक सम्यक् ज्ञान नहीं होता, सम्यक् श्रद्धा नहीं होती तथा सम्यक् क्रिया नहीं होती तब तक हम जिन होते हुए भी अजिन की तरह जीवन जीते रहते हैं। जैसे परम शक्तिशाली होने के बावजूद हाथी एक मामूली-सी डोरी से बांध दिया जाता है, क्योंकि उसे अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं है। उसे अपनी शक्ति पर श्रद्धा नहीं है और इसी कारण मुक्त होने के प्रयत्नरूप कोई क्रिया भी नहीं है।

'जिन' अथवा विजेता के रूप में महावीर और स्वयं की तुलना करके हम समतुल्य बनने के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं।

जिस प्रकार महावीर को 'जिन' रूप में जाना जाता है उसी प्रकार उन्हें केवली के संबोधन से भी पुकारा जाता है। केवली होने का तात्पर्य है कि वे केवलज्ञान के ही धारक है, उसके प्रतिपक्षी अज्ञान के नहीं। केवलज्ञान को दूसरी भाषा में अनंत ज्ञान भी कहा जाता है। केवलीभूत, वर्तमान और भविष्य की सभी घटनाओं को संपूर्ण रूप में स्पष्ट रूप से जानता-देखता है। केवली की इन क्षमताओं के बारे में सुनकर अनेक व्यक्तियों के मन में यह कामना होती होगी कि काश! हमारे पास केवलज्ञान होता तो हम व्यापार-व्यवसाय, चुनाव, परीक्षा आदि क्षेत्रों में बड़ी सफलताएं प्राप्त कर सकते थे। एक व्यापारी नुकसान इसीलिए तो उठाता है कि भविष्य में बाजार में किस वस्तु की मांग ज्यादा होगी, किसकी कम होगी, इसका सम्यक् ज्ञान उसको नहीं होता। परीक्षा देने वाले विद्यार्थी के लिए तो केवलज्ञान जादू की छड़ी से कम प्रतीत नहीं होता। लेकिन, ठहरिए! क्या आपको पता है कि केवलज्ञान से पहले वीतरागता की उपलब्धि अनिवार्य है यानी कामना से भरी हुई चेतना में केवलज्ञान का प्रकटीकरण नहीं हो सकता।

वैसे कुछ अनुभवी लोग कहते हैं कि थोड़ा-बहुत ज्ञान भी किसी को हो जाए तो संभालना भारी हो जाता है। ऐसे में केवलज्ञान तो बहुत बड़ा बोझ बन सकता है, यदि वीतरागता न हो तो। खैर, वीतरागता और केवलज्ञान का संबंध सिर्फ इतना ही नहीं है। राग-द्वेष से भरा हुआ चित्त किसी भी तथ्य को उसके सम्यक् स्वरूप में नहीं देख सकता। जैसे—यदि आप किसी से द्वेष रखते हैं तो उसकी अच्छाइयों की ओर से आपकी आंखें स्वतः मुंद जाएगी। वहीं राग-भाव जिस व्यक्ति के प्रति है, उसकी कमियां देख पाना मुश्किल होगा। अतः ज्ञान की समग्रता पर आवरण आ जाएगा। वीतरागता और केवलज्ञान पर केवल महावीर का ही अधिकार नहीं है, हम सभी की आत्मा में स्वाभाविक रूप से इनकी मौजूदगी है। हमें अपनी श्रद्धा को प्रखर बनाना होगा। प्रत्येक क्षण यदि हम इस अनुभूति में जीएं कि 'मैं वीतराग हूं' तो इस स्वाभाविकता पर छाए हुए आवरण को छंटने में देर नहीं लगेगी।

वीतराग-भाव के बाधक तत्त्वों में जिस प्रकार व्यक्तिगत राग-द्वेष का समावेश किया गया उसी प्रकार वैचारिक आग्रह का भी किया जा सकता है। जो व्यक्ति किसी विचारधारा के प्रति एकांत आग्रह रखता है तो वह भी वीतरागता को प्रकट होने से रोकता है। इस बाधा के निवारण के लिए महावीर ने अनेकांत को अपने दर्शन का अंग बनाया। उन्होंने जगत और जीवन से संबंधित प्रत्येक प्रश्न पर समग्रता से चिंतन किया और उसके प्रत्येक पक्ष को समान महत्त्व दिया, इसलिए उनके उत्तर एकांगी नहीं होते थे। इस दृष्टि से हम अपने जीवन का प्रतिलेखन कर सकते हैं कि हमारे जीवन में आग्रह या पकड़ का भाव कहां-कहां पर है? क्या हम पक्ष-विपक्ष के आग्रह में न पड़ते हुए संतुलित रूप से किसी तथ्य पर चिंतन कर सकते हैं? बार-बार की जाने वाली यह प्रतिलेखना हमें गुणात्मक रूप में महावीर के निकट ले जाएगी।

जितनी भी बातें कही गई हैं, उसमें महावीर के नाम का उपयोग मात्र एक आदर्श के रूप में किया गया है। आदर्श का काम होता है द्रष्टा के सम्यक् प्रतिबिंब को प्रस्तुत करना। यदि आदर्श सम्यक् न हो, जैसे रंगीन हो अथवा असमतल हो तो वह द्रष्टा के प्रतिबिंब को सही रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाएगा। आदर्श यदि सम्यक् हो तो सोने के फ्रेम में जड़ दिये जाने पर भी वह झूठ नहीं बोलेगा। महावीर के रूप में एक सम्यक् आदर्श की प्राप्ति अपने आपमें सौभाग्य से कम नहीं है।

महावीर के बारे में जब भी चर्चा करें तो इस रूप में न करें जैसे किसी अन्य व्यक्ति के बारे में चर्चा की जा रही हो। क्योंकि अन्य व्यक्ति के रूप में उनका ज्ञान दिमाग में जगह रोकने के अतिरिक्त और कोई काम का न होगा। जितना-जितना हमारे भीतर का महावीर पकड़ में आएगा उतना-उतना हमारी उपलब्धियों का शिखर हमारी पहुंच में आएगा। आखिरकार आचार्य महाप्रज्ञजी के भावों के अनुसार हम महावीर को मानने की बजाए जानने के लिए प्यासे हैं। ❑

# माया महाठगिनी हम जानी

नीरज जैन

संतों ने बार-बार प्रयास करके हमें इस विश्व की व्यवस्था समझाने की चेष्टा की है। अपने अनुभव से जाने हुए इसके रहस्य हमें उपलब्ध कराए जाते हैं। इस बात पर प्रायः सभी संत एकमत हैं कि संसार मायामय है और यह माया ही जीव को चार गतियों की चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कराती है। इसी माया को अविद्या भी कहा गया है। अविद्या के नाश हो जाने पर ही जीव की मुक्ति मानी गई है।

माया के स्वरूप को लेकर दर्शनशास्त्रों में अनेक व्याख्याएं की गई हैं। कहीं उसे स्वप्नवत्, एक भ्रम-मात्र कहा गया है, जिसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। कहीं उसे प्रकृति की लीला के रूप में व्याख्यायित किया गया है। माया को कहीं परब्रह्म परमात्मा की ही लीला कहा गया है। प्रायः इन सभी व्याख्याकारों ने माया से निर्मित इस विश्व को ईश्वर के उपादान में, ईश्वर की इच्छा से, ईश्वर के ही द्वारा निर्मित बताया है।

जैनाचार्यों ने विश्व को नित्य, परिवर्तनशील और उत्पन्न-ध्वंसी स्वभाव वाला माना है। दो द्रव्यों के सहयोग से स्वतः निर्मित यह सृष्टि जीवन और पुद्गल की अनादि संरचना है। जड़-चेतन से रचित यह संसार चेतन और अचेतन द्रव्यों की मिली-जुली परिणति है। अपनी अशुद्धि के कारण चेतन-स्वभाव वाला जीव इस जड़-स्वभाव वाले पुद्गल के साथ मिलकर अनेक असमान-जातीय रूपाकार ग्रहण करता है। यही दोनों चर और अचर की रचना करते हैं।

अपनी अशुद्धि के कारण पुद्गल-द्रव्य जीव के प्रारब्ध के अनुसार उसके स्थूल-शरीर के रूप में ढल जाता है। संचित कर्म के रूप में वही सूक्ष्म शरीर आदि का रूप धारण करके जीवों के संसार परिभ्रमण में निमित्त बनता है। मोह-माया के वशीभूत, अनादिकाल से विकारी बना यह जीव उन बंधनों में बंध जाता है। जैनाचार्य संसार को इसी प्रकार चेतन और अचेतन द्रव्यों की विकारजन्य परिणति स्वीकार करते हैं। उसके निर्माण के लिए या संचालन के लिए किसी ईश्वरीय शक्ति को उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने किया है या वह अनादिकाल से स्वतः निर्मित है और जड़-चेतन तत्त्वों के सहज परिणमन से चल रही है, इस विषय पर बहुत दार्शनिक ऊहापोह हुई है। इस उलझन को सुलझाने के लिए बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हुए। बड़े-बड़े ग्रंथों की रचना हुई। इस सिद्धांत के खण्डन और मण्डन का सिलसिला शायद सृष्टि के प्रारंभ से ही चल रहा है। कम से कम निकट भविष्य में उसका कोई सर्वमान्य समाधान निकल सकेगा, ऐसी भी आशा नहीं करनी चाहिए।

इस संबंध में गोस्वामी तुलसीदासजी का कथन सार्थक लगता है कि जड़ और चेतन के बीच में एक गांठ लग गई है। यद्यपि यह गांठ अवास्तविक है, भ्रमरूप है, फिर भी बड़ी कठिनाई से ही उसका खुलना संभव है—

**जड़-चेतनहिं ग्रन्थि परि गई,**
**जदपि मृषा, छूटत कठिनई,.**

## हमारे हानि-लाभ

सृष्टि के कर्तृत्व का निराकरण करने का यहां हमारा कोई संकल्प नहीं है। हम इस ऊहापोह पर मात्र इस दृष्टि से विचार करेंगे कि यदि ऐसा माना जाए कि सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने किया है तो हमें क्या लाभ-हानि होगी? इसी प्रकार यदि यह माना जाए कि मायामयी यह संसार छह द्रव्यों के अथवा पंचमहाभूतों के सहज संयोग से, प्राकृत रूप से स्वतः निर्मित और स्वतः संचालित है तो इस मान्यता से हमारे हानि-लाभ क्या होंगे?

यह बात गंभीरतापूर्वक ध्यान देने योग्य है कि यह सृष्टि वास्तविक हो या अवास्तविक हो, इसे ईश्वर ने इच्छा और संकल्पपूर्वक रचा हो या यह एक अनादि-अनंत प्राकृत संरचना हो, दोनों ही स्थितियों में इससे जीव को यानी हमें अकारण कोई हानि-लाभ नहीं होता। जिन्होंने संसार को दुःख रूप कहा है, उन्होंने भी जीव के लिए इस संसार में अकारण किसी दुःख का विधान नहीं किया।

वन में जिस प्रकार शिकारी अपने जाल फैला देते हैं और भोले पशु-पक्षी उसमें फंसकर भूख-प्यास आदि की पीड़ाएं सहते हुए अपने जीवन का अंत कर लेते हैं, उसी प्रकार यह मायामयी संसार किसी ने बना-सजाकर रखा हो ताकि भोले प्राणी अकारण इसमें फंसते रहें और जन्म-मरण के दुःख उठाते रहें, किसी भी दर्शनशास्त्र में संसार का ऐसा स्वरूप निरूपित नहीं किया गया। अतः यह बात स्पष्टतः सिद्ध है कि संसार जैसा भी है और जिसने भी इसे बनाया है, वह हमें क्लेश और पीड़ा देने के लिए न तो स्वतः बना है और न ही उस अभिप्राय से किसी ने उसकी रचना की है। तब फिर यह समझना तो शेष रह ही गया कि संसार में आज हमारी जो स्थिति हो रही है, हम जो कष्ट और क्लेश भोग रहे हैं, उसका उत्तरदायी कौन है?

एक प्रश्न यह भी उठता है कि यदि संसार माया से निर्मित और पूरी तरह अवास्तविक ही है, और उसी माया के कारण जीव इसमें जन्म-मरण के दुःख उठाते हुए भटक रहे हैं तो क्या इससे निकलने का कोई भी उपाय जीव के हाथ में है? यदि कोई उपाय है तो वह क्या है? कैसे हम इस दुःखद संसार-चक्र से बाहर निकल सकते हैं?

## दुनिया एक अजायबघर है

हम संसार की तुलना किसी बड़े म्यूजियम से, किसी बड़े अजायबघर से कर सकते हैं। अजायबघर में रखी विचित्र वस्तुओं की तरह संसार की हर वस्तु अपने आप में विचित्र है। यहां छोटी से छोटी संरचना के भीतर प्रकृति के बड़े-बड़े रहस्य छिपे हुए हैं। इस सृष्टि में निरंतर उत्पत्ति और विनाश का चक्र चल रहा है, परंतु इस चक्र की गति ऐसी लयबद्ध है, ऐसी संतुलित है कि अनवरत उपजता और विनशता हुआ भी यह संसार शाश्वत बना रहता है। संग्रहालय की तरह वह अपने ही नियमों से संचालित होता है। हमारे जैसे अनगिनत दर्शक निरंतर उसकी विचित्रताओं का आनंद लेते रहते हैं। संग्रहालय में घूमना, वहां रखी हुई वस्तुओं को देखना और उनकी विशेषताओं की चर्चा करके आनंदित होना अपराध नहीं है। रोज लाखों लोग दर्शक बनकर संग्रहालय में जाते हैं परंतु उनमें किसी को इसके लिए दंडित नहीं किया जाता। उसके कारण किसी भी दर्शक को दुःख और क्लेश नहीं भोगना पड़ता।

यह बात अवश्य है कि कोई दर्शक स्वयं अपनी सीमाओं का उल्लंघन करने लगे, संग्रहालय के नियमों की अवहेलना करके वहां अपनी इच्छानुसार आचरण करना चाहे, तो उसे निराशा, दुःख, क्लेश और दंड भोगना पड़ सकता है। जो चाहेगा कि संग्रहालय उसकी सुविधा के अनुसार समय से पूर्व खुल जाए या निर्धारित समय के बाद तक खुला रहे, या अवकाश के दिन खुल जाए, तो सामान्यतः ऐसा होता नहीं और चाहने वाले को निराश होना पड़ेगा। कोई चाहे कि जो वस्तु उसे प्रिय लगती है वह केवल उसी के लिए आरक्षित हो, दूसरे दर्शकों को उसका दर्शन वर्जित घोषित कर दिया जाए, तो सामान्यतः ऐसा होता नहीं और चाहने वाले को क्लेश और पीड़ा का अनुभव करना पड़ेगा।

संग्रहालय में प्रदर्शित वस्तुएं एक निश्चित योजना के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। संरक्षण और सुरक्षा की दृष्टि से भी उन्हें स्थानांतरित करने की आवश्यकता पड़ती है। अब कोई चाहे कि जिस वस्तु को उसने जहां, जिस स्थिति में देखा है और पसंद किया है, वह वस्तु वहीं, उसी स्थिति में, जब तक वह चाहे तब तक रखी रहे, तो सामान्यतः ऐसा होगा नहीं। वस्तुओं का प्रदर्शन संग्रहालय की योजना के अनुसार ही होगा और दर्शक को अपनी अपूर्ण इच्छा के लिए संक्लेशित होना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि कोई पागल दर्शक ऐसा समझ बैठे कि उसने टिकट लेकर संग्रहालय में प्रवेश किया है, इसलिए वहां प्रदर्शित वस्तुओं पर उसका अधिकार हो गया है, वही उनका स्वामी है, ऐसी भ्रमित धारणा बनाकर यदि वह संग्रहालय की किसी वस्तु को उठाए, उसे तोड़ने-फोड़ने की कोशिश करे, या उसे घर लाना चाहे तो सामान्यतः ऐसा होने नहीं दिया जाएगा। ऐसे दर्शक के आचरण को अपराध माना जाएगा और उसके लिए उसे दंड का भागीदार बनना पड़ेगा।

## देखना निरापद : छूना अपराध

इस संसार की स्थिति भी संग्रहालय जैसी ही है। चाहे इसे ईश्वर ने सुरुचिपूर्वक बनाया हो और वही उसका संचालन करता हो, चाहे वह स्वतः स्वभाव से निर्मित हो और स्वतः संचालित हो रहा हो, यह जैसा भी है अपनी जगह बहुत खुश है। इसके रहस्य हमारी जिज्ञासाओं को उत्तेजित करते हैं। इसकी विचित्रताएं हमें आनंदित करती हैं या कर सकती हैं, परंतु यह तभी संभव है जब हम एक ईमानदार दर्शक की तरह, दूर से ही उनके बारे में विचारते रहें या उन्हें देख-देखकर आनंदित होते रहें।

अपनी सीमा लांघकर यदि हम इस विश्व को अपनी इच्छानुसार संचालित करने का संकल्प करें, इसकी संरचना में विसंगतियां पैदा करने की कोशिश करें, इसके पदार्थों में से किसी को प्रिय मानकर अपने समीप रखना चाहें, और किसी को अप्रिय मानकर दूर फेंकने की चेष्टा करें, तो निश्चित ही इस विश्व की व्यवस्था में वह हमारी अनधिकार चेष्टा होगी। अवश्य ही इसके लिए हमें दंडित भी होना पड़ेगा।

विश्व बहुत विशाल है। वह क्षितिज और समय की सीमा के परे तक फैला हुआ है। हम भी किसी से कम नहीं हैं। इस जनम और मरण के पूर्व और पश्चात् भी हमारा ऐसा दीर्घ अस्तित्व है जो काल की किसी भी सीमा को स्वीकार नहीं करता। तब ऐसी हालत में यही होगा कि हम अपने राग-द्वेष और मोह के नशे में होश-हवास खोकर, किसी संग्रहालय के किसी पागल दर्शक की तरह, सृष्टि के साथ छेड़खानी करते रहेंगे। इसके फलस्वरूप हमारा वर्तमान दुःख और क्लेश से पीड़ित रहेगा और हमारा भविष्य अपने ही द्वारा किए गए उन अपराधों के दंड भोगने में व्यतीत होता रहेगा। अनादिकाल से हमारे साथ यही तो हो रहा है!

## क्रिया और प्रतिक्रिया

जिन दार्शनिक पद्धतियों में माया को ही जीव के लिए बंधन की संज्ञा दी गई है, या उसका कारण कहा गया है, उनके यहां भी वास्तविक व्याख्या लगभग ऐसी ही है जैसी ऊपर संग्रहालय के उदाहरण से हमने समझी है। उन्होंने भी भक्ति की भाषा में भले ही कहा हो कि इस सृष्टि का रचने वाला तथा जीव के लिए सुख-दुःख का विधान करने वाला ईश्वर है, लेकिन दार्शनिक विश्लेषण में सर्वत्र विश्व की व्यवस्था को स्वतंत्र, स्वाभाविक या प्राकृतिक ही स्वीकार किया गया है। जड़ तथा चेतना दोनों सक्रिय पदार्थ हैं। 'क्रिया' जब होती है तब उसकी 'प्रतिक्रिया' भी होती है, यह विज्ञान का अटल नियम है। सारे दर्शन-शास्त्रों में इस नियम को स्वीकार किया गया है। विश्व-व्यवस्था में सर्वत्र यह माना गया है कि हर प्राणी को अपने किए हुए कर्मों का फल भोगना पड़ता है।

## क्या ईश्वर सुख-दुःख का दाता है?

हमारे पास मूल रूप से तीन शक्तियां हैं– मन, वाणी और शरीर। हम अपना और दूसरों का जो भी भला या बुरा करना चाहते हैं, वह इन्हीं तीन शक्तियों के माध्यम से करते हैं। पिछले जीवन से संचित करके लाई हुई वासनाएं हमारे मन, वाणी और शरीर की क्रिया को प्रभावित करती हैं। इन्हीं कारणों से हमारे भीतर राजसी, तामसी और सात्विक प्रवृत्तियों का उदय होता है। इस वासना-प्रेरित प्रवृत्ति को ही 'त्रिगुणात्मिका-प्रकृति' कहा गया है।

जन्म-जन्मांतरों से हमारा स्वयं का अर्जित किया हुआ जो कर्म हमारे साथ लगा है उसे 'संचित-कर्म' कहा गया है। इस संचित कर्म में से जितना उदय में आकर वर्तमान में हमें अपना फल देने वाला है वह 'प्रारब्ध' कहा गया है। अपने मन, वाणी और शरीर की क्रियाओं के फलस्वरूप निरंतर हम जो नवीन कर्म बांध रहे हैं वह 'क्रियमाण' कहलाता है।

इस प्रकार कर्म या प्रारब्ध के उदय से प्रेरित हुआ जीवन रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण वाली तीन प्रकार की प्रवृत्तियों में लगा हुआ अपनी पूर्वोपार्जित वासनाओं को भोगता रहता है। अपनी मन-वाणी और कर्म की इन प्रवृत्तियों में, अविद्या के संस्कार-वश जीव को राग और द्वेष होते रहते हैं। कुछ प्रवृत्तियां जीव को प्रिय लगती हैं, कुछ अप्रिय लगती हैं। प्रिय को वह बार-बार दोहराता है और बहुत समय तक करता रहना चाहता है। अप्रिय कर्म से वह आगे उससे बचना चाहता है। अपने क्रियमाण में इसी प्रिय-अप्रिय की भावना से, इन्हीं राग-द्वेष के कारणों से, उसे नवीन कर्मों का बंध होता रहता है। ये निरंतर बंधने वाले कर्म जीव की सत्ता में वृद्धि करते रहते हैं। इसके 'संचित' का भार बढ़ाते रहते हैं।

सारांश यह कि जीव को अपने ही कमाए हुए कर्मों का फल भोगना पड़ता है। कर्मफल भोगते हुए, राग-द्वेष परिणति के कारण वह नवीन कर्म अपने साथ बांधता चलता है। ये कर्म प्रारब्ध बनकर निरंतर उसके उदय में आते रहते हैं। उदय को भोगते समय होने वाले तात्कालिक राग-द्वेष उसके लिए पुनः कर्म-बंध का कारण बनते हैं। अनादि से यही क्रम चल रहा है। जीव स्वयं अपनी करनी का फल भोग रहा है। कोई करे और किसी अन्य को उसका फल भोगना पड़े, ऐसा कभी नहीं होता। न लौकिक में, न परमार्थ में।

इसी तरह पाप का कार्य करने वाले को पुण्य का फल दे सके और पुण्य का कार्य करने वाले को पाप का फल दे सके, ऐसा कोई ईश्वर नहीं होता। हो ही नहीं सकता। जो जैसा करेगा उसे वैसा ही फल स्वयं प्राप्त होगा। उसे वह भोगना ही पड़ेगा। यही सृष्टि का स्वतः-सिद्ध, सहज, स्वाभाविक नियम है। यह क्रिया और

प्रतिक्रिया के निश्चित नियम पर आधारित एक वैज्ञानिक व्यवस्था है। इसमें अपवाद नहीं होते–

**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'**

## जैसी करनी वैसी भरनी

रामचरितमानस में एक प्रसंग आता है। वनवासी राम चित्रकूट पहुंचे हैं। भरत उन्हें मनाने और वापस अयोध्या ले जाने के अभिप्राय से उनके पास आ रहे हैं। भरत को सेना और सेवकों के साथ आते देखकर अनेक जनों के मन में अनेक प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। कोई उनकी नीयत पर संदेह करता है। कोई कुपित होकर उनका सामना करने को कमर कसने लगता है। लक्ष्मणजी भी एक क्षण के लिए विचलित हो उठते हैं। यहां तक तो ठीक, परंतु देवराज इन्द्र भी भरत के आगमन को लेकर चिंतित हो उठते हैं। वे सोचते हैं कि राम तो जग का कल्याण करने निकले हैं, पर यदि भरत के स्नेह में ये वापस लौट पड़े तो अन्याय का उन्मूलन करके न्याय की स्थापना का यह महान कार्य फिर नहीं हो पाएगा।

इन्द्र अपने गुरु बृहस्पति से प्रार्थना करते हैं–'नाथ! कुछ ऐसा कर दीजिए जिससे राम और भरत की भेंट ही न हो पाए। राम बहुत संकोची हैं। वे प्रेम के वशीभूत हो जाते हैं। भरत तो प्रेम के सागर ही हैं। दोनों का मिलाप हो गया तो श्रीराम कभी भरत का आग्रह टाल नहीं सकेंगे। वे अयोध्या लौटने की स्वीकृति दे देंगे और हमारी बनती बात बिगड़ जाएगी। अतः कोई छल भी करना पड़े तो कीजिए, पर इनका मिलाप मत होने दीजिए और सुरेन्द्र की इस प्रार्थना पर देवताओं के गुरु बृहस्पति ने मात्र भगवान राम का स्वरूप बताकर ही देवराज की शंका का समाधान कर दिया। –'भगवान तो समता भाव वाले हैं। उनमें न तो राग है, न द्वेष है। वे न किसी का पुण्य छीनते हैं, न किसी का पाप ग्रहण करते हैं। न किसी के गुणों से उन्हें तात्पर्य है, न दोषों से।'

शायद यहीं किसी ने सुरगुरु से पूछ लिया होगा कि 'यदि भगवान का स्वरूप ऐसा राग-द्वेष रहित है तो फिर यह सृष्टि कैसे चलती है? जीवों को सुख-दुःख का देने वाला कौन है?' इन्हीं जिज्ञासाओं का समाधान सुरगुरु ने अगली पंक्ति में किया 'यह विश्व कर्म-प्रधान है। यहां का नियम यही है कि जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही उसका फल भी भोगना पड़ता है। यही सृष्टि का रहस्य है।'

–'प्रायः लोग कहते हैं कि करने-कराने वाला तो भगवान है। हम तो यंत्र हैं। हमसे वे भला कराएं अथवा बुरा, किंतु योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'न वह प्रभु स्वयं करता है, न कराता है, और वह जुगाड़ भी नहीं बैठाता। लोग अपने स्वभाव में स्थित प्रकृति के अनुरूप स्वतः कार्य करते हैं। वे अपनी आदत से मजबूर होकर करते हैं, भगवान नहीं कराते।'

तब लोग कहते क्यों है कि भगवान करते हैं? इस पर योगेश्वर बताते हैं–

**नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।**
**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जन्तवः।।**

–'जिसे अभी प्रभु कहा, उसी को यहां विभु कहा गया है, क्योंकि वह संपूर्ण वैभव से संयुक्त है। प्रभुता एवं वैभव से संयुक्त वह परमात्मा न किसी के पाप कर्म को और न किसी के पुण्य कर्मों को ही ग्रहण करता है। फिर लोग कहते क्यों हैं? इसलिए चूंकि अज्ञान के द्वारा उनका ज्ञान ढंका हुआ है। उन्हें अभी आत्म-साक्षात्कार सहित ज्ञान तो हुआ नहीं। वे अभी 'जंतु' हैं। मोहवश वे कुछ भी कह सकते हैं।'

शेषांश अगले अंक में...

अहिंसा मानवता का मूल एवं जीवन का सर्वोच्च धर्म है। मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति अहिंसा की अमिट देन है। जीवन का प्रत्येक पक्ष अहिंसा के प्रांगण में पल्लवित होता आया है। अहिंसा की उपयोगिता एवं सार्वभौमिकता प्रत्येक क्षेत्र में परिलक्षित होती रही है। जहां एक ओर व्यक्ति की मानसिक शांति के लिए अहिंसा अत्यंत आवश्यक है वहीं समाज के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा के परिणामस्वरूप ही परस्पर मैत्री, सौहार्द एवं भाईचारे का भाव विकसित होता है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा तो सदैव आवश्यक है, किंतु जब हिंसा का वातावरण व्याप्त हो तो अहिंसा और अधिक आवश्यक हो जाती है। हिंसा का ग्राफ जितना बढ़ता जाएगा, अहिंसा की अपरिहार्यता उतनी ही अधिक बढ़ती जाएगी। आधुनिक अणुयुग में जब सर्वत्र हिंसा अपनी चरम सीमा पर है, ऐसे समय में अहिंसा ही मानव के अस्तित्व की सुरक्षा का एकमात्र विकल्प है। यदि मानव को महाविनाश में विलीन नहीं होना है तो उसे अहिंसा के चिंतन और व्यवहार को पुनः जीवनगत करना होगा। अहिंसा की अपरिहार्यता को स्पष्ट करते हुए अहिंसादूत गांधी ने कहा था कि 'सारा समाज अहिंसा पर उसी प्रकार कायम है जिस प्रकार कि गुरुत्वाकर्षण से पृथ्वी अपनी स्थिति में बनी हुई है। समाज में हमें पग-पग पर अहिंसा की आवश्यकता है। यहां तक कि सेना आदि हिंसक संगठनों को भी अहिंसा का आसरा लेना पड़ता है।'

# अणुयुग में अहिंसा की अपरिहार्यता

**वंदना कुंडलिया**

आज जिस युग में हम सांस ले रहे हैं, उसका वर्तमान और भविष्य दोनों ही भयावह है। अर्थ और पदार्थ का असीमित विकास ही आज प्रमुख बनता जा रहा है। बाजार की संस्कृति पनप रही है और परिवार की संस्कृति सिमटती जा रही है। पदार्थ को जुटाने और सुविधाओं को भोगने की मानसिकता ने मनुष्य को कभी न रुकने वाली दौड़ में सम्मिलित कर दिया है। इसके परिणामस्वरूप न केवल मनुष्य बल्कि पशु-पक्षी, पेड़-पौधों एवं संपूर्ण सृष्टि का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। मानवता आज सामूहिक आत्मघात के मुहाने पर खड़ी है और संपूर्ण विश्व विनाश के कगार पर।

इसी सदी के प्रारंभ से लेकर अब तक की मानव प्रगति की यात्रा पर दृष्टिपात किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि दिन-प्रतिदिन विकास के नए आयाम स्थापित करने में मानव ने कोई कसर नहीं छोड़ी है। 'स्पेस टेक्नोलॉजी' के माध्यम से मनुष्य ने ब्रह्मांड के अनेक ग्रहों की यात्राएं की है, अंतरिक्ष में प्रयोगशालाएं स्थापित की हैं और अब इन ग्रहों पर आवासीय बस्तियां बनाने की योजना भी संलग्न है। वैज्ञानिक उपलब्धियों के नाम पर हुए तकनीकी विकास ने जहां मानव को अनेकानेक सुख सुविधाएं मुहैया करवाई है, वहीं कई भयावह समस्याओं का भी आविर्भाव हुआ है। विकास की इस अवधारणा से संपूर्ण पर्यावरण असंतुलित हो गया है। सूरज तेजी से ठंडा हो रहा है और ग्लेशियर पिघलने से समुद्र का जल स्तर बढ़ता जा रहा है। ओजोन-परत का छेद दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। विश्व में कहीं भी, कभी भी सुनामी की तबाही मच सकती है। सुरक्षा के नाम पर अणु आयुधों के जखीरे जमा होते ही जा रहे हैं। यह कहना समीचीन प्रतीत होगा कि

अहिंसा की प्रवृत्ति को आधुनिक वैज्ञानिक परिदृश्य में बढ़ावा मिला है। यह स्पष्ट है कि आज के इस विज्ञान आधारित युग में मानवीय संवेदना का स्तर सूखता ही जा रहा है एवं दया, करुणा, प्रेम, ममता जैसे उदात्त भावों का उद्वेग कम होता जा रहा है।

भूमण्डलीकरण की बाजार व्यवस्था ने समाज से मूल्यों को दरकिनार कर दिया है। तथाकथित बाजार के व्यामोह में फंसकर मनुष्य दिग्भ्रमित हो गया है। आज मनुष्य ने पश्चिम की 'खाओ-पीओ और मौज करो' की चार्वाकीय जीवन पद्धति को अपनाकर अपने ही हमशक्लों को दयनीय जीवन जीने को विवश कर दिया है। बड़े पैमाने पर उत्पादन, मुक्त व्यापार, अन्तरराष्ट्रीय बाजार, वैश्वीकरण जैसे आकर्षक शब्दों के प्रयोग से वैश्विक अर्थव्यवस्था को केंद्रित करने की प्रक्रिया बल पकड़ती जा रही है। पर्यावरण एवं प्राकृतिक संतुलन को नजरंदाज कर अधिकाधिक धनोपार्जन की भावना मस्तिष्क में पैठ जमाती जा रही है। प्रत्येक राष्ट्र अपने सीमित संसाधनों की समस्या के बावजूद भी आणविक शक्तियों को जुटाने में प्रयत्नशील है। धार्मिक एवं सांप्रदायिक उन्माद, सीमा विवाद, परस्पर घृणा, विद्वेष, कटु प्रतिस्पर्धा, आतंकवाद जैसी समस्याओं ने मानवीय गरिमा के प्रश्न को अनुत्तरित कर दिया है।

प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिए अस्त्र-शस्त्र की अत्याधुनिक पद्धति को जुटाने में लगा हुआ है। पड़ोसी को शक्ति का परिचय देने के लिए भय पैदा किया जाता है। युद्ध के नगाड़े बजाने में, हिंसा और आतंक का परचम फहराने में और खून की नदियां बहाने में आज किंचित् मात्र भी विचार नहीं किया जाता। अस्त्र-शस्त्र का एकत्रीकरण विश्व के लिए सबसे बड़ा खतरा है और उनका भण्डारण मानव मूल्यों का सरेआम हनन है। विश्व में अनेक ऐसे संगठन हैं जो बारूद के ढेर पर शस्त्रों का जखीरा लिए बैठे हैं और आक्रोश का तूफान मस्तिष्क में संजोए हैं। इसी कारण जो विश्व शांति की शहनाई बजती है वह आतंक की क्रांति के बिगुल में दबती जा रही है। जब तक विभिन्न राष्ट्रों में स्वार्थ की चिनगारियां सुलगती रहेंगी तब तक युद्ध का वातावरण बना रहेगा।

पाश्चात्य यूरोपियन सभ्यता का सबसे बड़ा अवदान वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्रांति है। लेकिन जब तक विज्ञान और अहिंसा का समन्वय नहीं होगा तब तक यह अवदान अभिशाप बनकर ही फलित होगा। यद्यपि विकास सभ्यता और समाज की अनिवार्यता है तथापि विकास के क्रम में अहिंसा की अवधारणा को भूलना मानवता के अस्तित्व के लिए अत्यंत खतरनाक सिद्ध हो सकता है। विकास को जीवनोपयोगी बनाने के लिए अहिंसा को जीवन-मूल्य बनाना ही होगा। आज जब सारा विश्व ऐसे अघोषित युद्ध की विभीषिका से गुजर रहा है, जहां 'कहां, कब, क्या हो जाए' का प्रश्न अनुत्तरित है तो ऐसी विषम परिस्थिति में समाधान की दिशा में गंभीरतापूर्वक विचार मंथन करने के पश्चात् मात्र एक शाश्वत विकल्प सामने आता है–'अहिंसा' का। क्योंकि यही 'जीओ और जीने दो' का दर्शन है। अतः यही एक मात्र साधन है, एक मात्र विकल्प है। इसी से ही संपूर्ण मानवता, संपूर्ण प्राणी जगत, संपूर्ण पर्यावरण और समस्त ब्रह्माण्ड का कल्याण हो सकता है। प्राचीन समय में जहां अहिंसा जीवनमूल्य में प्रतिष्ठित हुई, कालांतर में जीवन का आवश्यक अंग बनी और आज अणुयुग में अहिंसा जीवन के लिए अनिवार्य बन गई है।

यूनेस्को के एक सम्मेलन में रॉबर्ट ओपेन हाइमर ने कहा था कि 'यदि मानव समस्याओं के विषय में आइंस्टाइन की दृष्टि को एक शब्द में अभिव्यक्त करना है तो वह शब्द है–अहिंसा।' इसलिए वर्तमान आणविक युग में अहिंसा की प्रासंगिकता इतनी बढ़ गई है कि आणविक विज्ञान एवं शक्ति

के पुरस्कर्ताओं को भी अहिंसा की ओर आकृष्ट होना पड़ रहा है, किंतु यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब वर्तमान युग के लिए अहिंसा इतनी अपरिहार्य है तो इसके पालन में शिथिलता क्यों है? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि आज अहिंसा को केवल बाह्यनीति समझा जा रहा है जिस कारण वह न तो जीवन के आचरण में उतर पाती है और न ही व्यक्तित्व का अंश बन पाती है। अहिंसा केवल धार्मिक या सांप्रदायिक कर्मकाण्ड नहीं अपितु एक समग्र जीवन दर्शन एवं वैज्ञानिक तत्त्वज्ञान है। भौतिकी के क्षेत्र में प्रसिद्ध वैज्ञानिक नील्स बोर ने परस्परता के जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है, समाज विज्ञान के क्षेत्र में उसी का प्रतिरूप अहिंसा है। अहिंसा समाज में 'जीओ और जीने दो' के विचार को अभिव्यक्त करता है जिसे हम परस्परता का भाव कह सकते है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि विज्ञान के सत्य एवं नीतिशास्त्र के सत्य में कोई विरोध नहीं है।

अहिंसा आज केवल मानवता अथवा करुणा का प्रश्न नहीं अपितु अस्तित्व की अनिवार्यता है। अतः अहिंसा की मात्र सैद्धांतिक व्याख्या की बजाय व्यावहारिक जीवन में उसे उतारने की आवश्यकता है। अहिंसा का यह प्रतिफलन व्यवहार में जितना शीघ्र होगा विश्व में शांति, सहिष्णुता एवं सुरक्षा उतनी ही शीघ्र पुनःस्थापित होगी। अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए आज केवल भावना ही नहीं अपितु अपेक्षित सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक संरचना भी आवश्यक है। अहिंसा के लिए अहिंसक समाज व्यवस्था, अहिंसक अर्थनीति, अहिंसक शिक्षानीति अर्थात् समग्र व्यवस्था में परिवर्तन अपेक्षित है तभी विश्व-शांति का स्वप्न यथार्थ में परिवर्तित हो सकता है। ❑

## अपना-अपना दृष्टिकोण

*एक सेठ की दो पत्नियां थीं। एक धार्मिक थी और दूसरी धर्म का मर्म नहीं जानती थी। सेठ विदेश गया हुआ था। अकस्मात् वहीं उसकी मृत्यु हो गई। घर पर समाचार आया। एक पत्नी फूट-फूटकर रोने लगी। दूसरी पत्नी, जो धार्मिक थी, उसने समभाव रखा। लोग बहुत आए। सबने देखा, एक पत्नी रो रही है, दूसरी शांत है। लोगों ने उसे सराहा, जो रो रही थी। जो नहीं रो रही थी, उसकी निंदा की। उन्होंने कहा, 'जो रोती है, वह पतिव्रता है। उसे पति के मरने का कष्ट हुआ है। यह पतिव्रता नहीं है, इसे पति के मरने का कोई कष्ट नहीं है, भला यह क्यों रोए? यह तो चाहती थी कि पति मर जाए, फिर इसके आंसू क्यों आएं?' संयोगवश कुछ साधु भी उधर चले गए। उन्होंने उसे सराहा जो समभाव से बैठी थी। लौकिक दृष्टि से देखने वालों को वह अच्छी लग रही थी जिसकी आंखों में आंसू थे। लोकोत्तर दृष्टि से देखने वालों को वह अच्छी लग रही थी जिसकी आंखों में समभाव लहरा रहा था। यह अपना-अपना दृष्टिकोण है।*

# जीवन की राह चुनो

मेरी ताकत जवाब दे चुकी है, आंखों की रोशनी चली गई है... मैं टूटने ही वाला हूं...दर्द तो जीवन भर को पीछे पड़ गया है... इत्यादि-इत्यादि।' हममें से ऐसा कौन है जिसे जीवन में कभी ऐसे कष्ट न झेलने पड़े हों कि वह टूट कर ढहने को हो जाए।

हो सकता है, आप का प्रिय आपको छोड़ गया हो अथवा मृत्यु ने उसे आप से छीन लिया हो या आपका वह काम छूट गया हो जिसके कारण आपके जीवन को सार्थकता मिलती थी, या फिर आपकी प्यारी संतान ही किसी मुसीबत में फंस गई हो अथवा आप कोई ऐसा गलत काम कर बैठे हों जिसके अपराध का बोझ मन और मस्तिष्क को झंझोड़ रहा हो।

किंतु सबसे खराब बात यह होती है कि ऐसे संकट में हम इन परिस्थितियों से उबरने की राह नहीं खोज पाते और पलायन के लिए कभी शराब का सहारा लेते हैं तो कभी प्रेम प्रसंग पालते हैं या फिर एक-एक पल घोर अवसाद में काटते हैं।

हमारे शरीर की एक-एक कोशिका की प्राकृतिक संरचना ही ऐसी है कि वह जीवित रहने के लिए संघर्ष करती है। पृथ्वी पर हमारा जन्म इसीलिए हुआ है कि हम जीवित रहें, जीवन में होने वाली प्रत्येक घटना को अनुभव करें–इस अनुभव के आधार पर यथाशक्ति भली भांति आचरण करें और इस प्रकार अपना विकास करें।

जीवन ऐसा दीपक है जिसका उद्देश्य है अनेक ज्वालाएं प्रदीप्त करते रहना, जीवन वरदान है और आने वाली पीढ़ियों के लिए उत्तराधिकार है।

किंतु हम ठोकर खाकर उठना और फिर आगे बढ़ना कैसे सीखते हैं। और फिर से आशा की किरण फूटने तक हिम्मत न हारना हम कैसे सीख सकते हैं?

1. पहले मन में जीने की चाह पैदा कीजिए। उन लोगों को देखिए जो महाकवि दात्रे के शब्दों में 'अंधियारे जंगल' में से गुजरे हैं, मनोवैज्ञानिक विलियन जेम्स ने लिखा है— एक बार आपके हृदय में ऐसा विश्वास जम जाए कि जीवन जीने योग्य है, फिर तो यह विश्वास ही वास्तविकता तक पहुंचा देगा।'
2. स्वयं को और दूसरों को क्षमा करना सीखिए।
3. आत्मसम्मान फिर से पाइए, जिन मूल्यों में आपकी आस्था है, उन पर अटल रहिए। अपने मन में हो या दुनिया के सामने अपने बारे में हमेशा अच्छा ही बोलिए। अपने प्रति भी उतने ही उदार बनिए जितने दूसरों के प्रति होना चाहते हैं।
4. अपनी सामर्थ्य अनुसार ही किसी वस्तु के लिए प्रयत्न करें–मार्कस आरिलियस ने कहा है–'जो चीज आपके पास नहीं है, उसके बारे में न सोचकर उसके बारे में सोचें जो आपके पास है।'

5. किसी ऐसे सदृश व्यक्ति के पास जाइए जिसके सामने आप अंतस्तल की संपूर्ण व्यथा कह सकें।

6. दूसरों की सहायता कीजिए। दूसरों का दुःख-दर्द बांटकर अपनी पीड़ा दूर कीजिए।

7. किसी परमशक्ति से अपना संबंध जोड़िए। प्रार्थना द्वारा हम उस अक्षय शक्ति से अपना संबंध जोड़ सकते हैं जो समग्र ब्रह्मांड की नियंता है।

8. अपनी कमजोर से कमजोर उमंगों को भी संजोइए-संवारिए। अंधेरी जिंदगी में चमकने वाली आशा की क्षीण से क्षीण किरन की भी उपेक्षा मत कीजिए। प्रसन्नता की मामूली-सी बात पर निगाह रखिए।

9. चारों ओर बिखरी प्रकृति की मोहक छवि को भी निहारिए।

10. अंतिम बात, कृतज्ञता जताना सीखें 'प्रभो! तेरा धन्यवाद, इन विविध ऋतुओं के लिए जो इतने रंग बदल-बदल कर आती है व जाती हैं। पुस्तकों के लिए धन्यवाद, मधुर संगीत के लिए धन्यवाद। और जीवन हमें जिस राह जीने को बाध्य करता है, उसके लिए भी धन्यवाद।'

अभ्यास कीजिए! आप कुछ समय बाद शायद स्वयं ही अनायास कहने लगेंगे—'प्रभो! जीवन जैसा है, वैसा बनाने के लिए धन्यवाद— दुःख के साथ-साथ सुख से भरा यह अनूठा जीवन देने के लिए धन्यवाद। तब आप संभवतः यह भी सोचने लगेंगे। जन्म लेना और जीवन पाना मात्र अपने आप में कितना सुखद है, कितना अद्भुत। ❑

# संसार सुख और पुण्य

राजा सिद्धराज जयसिंह अपने शयनखंड में सो रहे थे और दो सेवक उनके पैर दबा रहे थे। राजा को निद्राधीन जानकर पहले सेवक ने कहा—'अपने राजा की उदारता, उत्तम प्रजावत्सलता, विद्वानों-कलाकारों का सम्मान आदि राजोचित अनेक गुण वास्तव में प्रशंसनीय हैं।' दूसरे सेवक ने कहा—'अपने सैन्य की शक्ति, कठोर राज्यपालन और चतुराई द्वारा ही वे विशाल राज्य के स्वामी बने हैं।' इस प्रकार दोनों ने राजा की प्रशंसा की। इस बात का राजा को ध्यान था।

राजा के कार्यों की प्रशंसा करने वाले दूसरे सेवक को अलग से बुलाकर, उसे कुछ भी कहे बिना राजा ने एक लेख दिया और वह लेख महामंत्री सांतू को पहुंचाने की आज्ञा दी।

यह सेवक राज्य का लेख लेकर राजप्रासाद की सीढ़ियां उतर रहा था कि इतने में उसका पैर फिसला और नीचे गिरने से उसके पैरों में भारी चोट आई कि जिससे वह चल नहीं सका।

इस ओर तभी, उसका साथी सेवक वहां आ पहुंचा और उसने पूछा—'क्यों भाई, क्या हुआ?' सेवक ने कहा—'मेरे पैर में चोट लगी है, अतः महाराज का यह संदेश तुम महामंत्री तक पहुंचा दो।' साथी सेवक वह संदेश लेकर महामंत्री के पास गया। उसमें लिखा था—आने वाले व्यक्ति को सौ सिपाहियों का सरदार बना देना।'

कुछ दिनों बाद राजा को जब इस बात का पता चला तो उन्हें भी लगा कि जिसे दिया उसे नहीं मिला और जिसके भाग्य में था उसे ही मिला।

पुण्य के उदय को कौन बदल सकता है? ❑

# अहिंसा का महत्त्वपूर्ण अंग – स्याद्वाद

## भूपेंद्र मूथा

जैन धर्म अहिंसा की मूल भित्ति पर टिका हुआ है। अहिंसा जैन-धर्म की आत्मा है। किसी को जान से न मारना ही अहिंसा नहीं है अपितु किसी के प्रति मन में दुश्चिंतन व खराब भावना नहीं करना भी अहिंसा है। किसी के प्रति अपशब्दों का प्रयोग न करना, निर्दयतापूर्वक व्यवहार न करना, शोषण नहीं करना, रंग-भेद या भाषायी आधार पर किसी मनुष्य को हीन या उच्च नहीं समझना, सह-अस्तित्व में विश्वास रखना, किसी के अधिकार का अपहरण न करना भी उच्चकोटि की अहिंसा है।

'मित्ती मे सव्वभूएसु' यह शब्द 'जैन प्रतिक्रमण' में युगों-युगों से चले आ रहे चिंतन मनन के लिए प्रतिष्ठित रहे हैं। सब प्राणियों के प्रति उदात्त मैत्री भाव रखने वाले व्यक्तियों से सभी नागरिकों की समानता में सहज विश्वास की आशा करना स्वाभाविक है। यही समानता की भावना लोकतंत्र की आधार-शिला है। समानता स्वतंत्रता की भगिनी है। फ्रांस की राज्यक्रांति (1789) में लोकतंत्र का कण्ठस्वर 'स्वतंत्रता, समानता, बंधुता' ऐसे ही नारों से गुंजित हुआ था। अमेरिका के टॉयम पेन ने 'विवेक का युग' (1793) में लिखा है कि 'मैं मनुष्य की समानता में विश्वास करता हूं और मेरा विश्वास है कि न्याय करने, प्रेमपूर्णदया और अपने साथी प्राणियों की प्रसन्नता के लिए प्रयत्न में धार्मिक कर्तव्य निहित है– समानता में आस्था रखने वाला व्यक्ति धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान इत्यादि के आधार पर भेद-भाव नहीं मानता। वह 'मनसा वयसा-कायसा के आधार पर समानता का आचरण करता है।' महात्मा गांधी ने 'यंग इण्डिया' में सन् 1921 में लिखा था— मेरा धर्म बंदीगृह का नहीं है। इसमें परमात्मा के छोटे-से-छोटे प्राणी के लिए स्थान है, किंतु यह मूलवंश, धर्म और वर्ण के दुराग्रही अभिमत से प्रभावित नहीं होता।'

समानता की यह भावना जैन-धर्म और दर्शन में आधारभूत रूप से बहुत गहरी ही नहीं, व्यापक भी रही है। समता की दृष्टि व्यक्ति के व्यक्तित्व को संतुलित और शांत रखती है। वह समाज को भी समरसता, सहानुभूति और सुख-शांति प्रदान करती है। मनुष्य-मनुष्य में अंतर जैन सिद्धांतों के अनुकूल नहीं कहा जा सकता है। कोई भी प्राणी सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र के मार्ग को अपनाकर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। उसके लिए जाति, भाषा, धर्म आदि के भेद की मान्यता नहीं है। जैन-दर्शन का समत्व तो प्राणी मात्र तक प्रसारित है, सीमित या संकुचित नहीं। जैन-दर्शन के आधार पर सभी जीवों के प्रति समतापूर्वक मैत्री की कामना की गई है। बलपूर्वक किसी भी प्राणी को अपने अधीन करने का निषेध किया गया है। आगमों में उपदेश दिया गया है—

'सव्वे पाणा सव्वे भूया-सव्वे जीवा सव्वे सत्ता
न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा परिघेतव्या,
न परियाघेतव्या न उद्दवेयव्या
एस धम्मे धुवे णिइए सासए।'

सर्वप्राणीभूत, प्राणी और सत्य हैं, इनका घात मत करो, बलात् किसी को अपने अधीन मत करो, प्रहार मत करो, शारीरिक, मानसिक पीड़ा मत उपजाओ, क्लांत मत करो, उपद्रव मत करो।

जैसे निज को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है ठीक वैसे ही दूसरों को भी सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। यह समझकर विवेकीमनुष्य किसी की भी हिंसा न करे।

'स्याद्वाद अहिंसा का ही एक अंग है। जैन-दर्शन में अहिंसा सर्वोपरि है। यदि कहा जाए कि अहिंसा जैन दर्शन का पर्यायवाची नाम है तो अत्युक्ति नहीं होगी। जहां जैन-दर्शन मनुष्य अथवा प्राणधारी के जीवन को प्रत्येक क्रिया में हिंसा का आभास करता है और कहता है कि विश्व में किसी भी प्राणधारी की, पृथ्वी, अप्, तेजस, वायु, वनस्पति तथा त्रस जीवों की हिंसा से विरत रहना चाहिए, उसी जैन दर्शन के व्याख्याता आचार्यों ने यह भी प्रतिपादित किया—

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयं मासे, जयं सये।
जयं भुजंतो, भासंतो, पावकम्मं न बंधई।।

उपरोक्त गाथा में बलपूर्वक जीवन यापन में पापकर्म के बंधन न होने का प्रतिपादन किया है। जैन दर्शन में द्रव्यहिंसा की अपेक्षा भावहिंसा को ही अधिक बंध का कारण माना गया है यानी किसी भी प्राणी को ऐसा वचन न कहा जाए जिससे उसकी आत्मा को दुःख पहुंचे। स्याद्वाद बौद्धिक अहिंसा है। वास्तव में धर्म के नाम पर होने वाले सांप्रदायिक संघर्षों का मूल कारण एकांतवाद का आग्रह है। केवल मेरा धर्म, विश्वास व उपासना पद्धति ही एक मात्र सत्य है और दूसरे सब गलत हैं। मेरा धर्म ही ईश्वरीय धर्म है। ईश्वर मेरी पूजा से ही प्रसन्न होगा तथा अन्य लोगों की उपासना पद्धति मिथ्या है। मेरे धर्मग्रंथ ही प्रामाणिक व ज्ञान के भंडार हैं। अन्य सब व्यर्थ हैं। इन धारणाओं के कारण समय-समय पर भयानक कलह हुए हैं, लड़ाइयां लड़ी गईं और मानव जीवन कष्टप्रद व दुःखी बना।

'सब मनुष्य एक हैं'—यह सापेक्ष सिद्धांत है। मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रकृति और व्यवस्थागत अनेकताएं हैं। एकता और अनेकता से परे जो द्वंद्वता आत्मा की अनुभूति है वह धर्म है। इस बीच धार्मिक दृष्टिकोण से मानवीय एकता का विकास होगा व मनुष्य के बीच घृणा और संघर्ष की समाप्ति हो जाएगी।

स्याद्वाद आग्रह के स्थान पर समन्वय का प्रेरक है। 'स्याद्वाद सुख-शांति और सामंजस्य का प्रतीक है। विचार के क्षेत्र में अनेकांत, वाणी के क्षेत्र में स्याद्वाद और आचरण के क्षेत्र में अहिंसा—यह सभी भिन्न-भिन्न दृष्टियों से लेकर एक ही है। स्याद्वाद एक समुद्र है जिसमें सारे वाद विलीन हो जाते हैं। अतः स्याद्वाद मानव मात्र के लिए आत्म कल्याण का अमोघ साधन है। उससे ज्ञान का विस्तार होता है व श्रद्धा निर्मल बनती है। आज संपूर्ण विश्व बारूद के ढेर पर बैठा-बैठा ऐटम बमों के दंभ पर अपनी ताकत आजमा रहा है तब इस प्रकार अनेकांतमय विचारों के अनुशीलन से अंधविश्वास, सांप्रदायिक संकीर्णता और असहिष्णुता आदि प्रवृत्तियां नष्ट हो सकती हैं और मानव लोक-कल्याणवादी आचरण को शुद्ध कर स्याद्वाद रूपी वाणी द्वारा सत्य की प्रस्थापना कर अनेकांत वस्तु-तत्त्व को प्राप्त कर मानव आत्मसाक्षात्कार कर सकता है और अनंत चतुष्टय एवं सिद्धत्व की प्राप्ति कर सकता है। आगम सूत्र में कहा गया है कि—

समावयंता वयणाभिगाया,
कण्णं गया दुम्मणियं जणन्ति,
धम्मोत्ति किच्चा परमग्ग सूरे,
जिइन्दिए जो सहई स पुज्जो।

जिनके सुनने मात्र से मन में क्रोध उमड़ पड़ता है ऐसे वचनाभिघाति— कटु शब्दों को जो 'क्षमा करना धर्म है' यह जानकर सह जाता है वह उत्कृष्ट वीर और जितेंद्रिय साधक वस्तुतः पूज्य है। ❐

# पुकार

पुष्पलता शर्मा

माली नै जैसे ही एक फूल माला में पिरोने के लिए उठाया, फूलों की टोकरी में से एक करुण चीत्कार अनायास निकल पड़ी—नहीं ! नहीं !! नहीं !!!

बूढ़े माली के हाथ रुक गए। उसने देखा तो वह देखता रह गया। 'एक पूर्ण विकसित फूल की आंखों में पानी! फूल तो सदैव मुसकराता है, पर यह क्या! विचित्र विडम्बना... कैसी विवशता!'

माली की संवेदनशीलता उसी क्षण अर्थलोभ के बीच विलुप्त हो गई। अभ्यस्त अंगुलियां पुनः विकच प्रसूनों को उठाती, सूई से फूलों के अन्तस्तल को चीरती सुंदर हार का रूप दे रही थी। पुनः आवाज आई— 'ठहरो! ठहरो !! ठहरो !!!' माली सहम गया। यह चौकन्नी आवाज उसे भयभीत करने लगी।

'मेरे संरक्षक! तुमने क्या नहीं किया? ओह! मां से बिछोह, घर-परिवार से निकास, सूचि-छेदन का त्रास। आज भी विशाल समारोह में तुम्हारी फूलमालाएं चौगुने मूल्य पर बिकेंगी,... शायद तुम उस दिन को भूल गए... उस क्षण की... उस पल की... याद आज भी मेरे सीने में दावानल की तरह से धधक रही है, मेरी आंखें शोले बरसाने लगती हैं।' गुस्से का चेहरा और भी सुर्ख नजर आने लगा। उसने कहना जारी रखा—

'उस दिन कितना खुश-नसीब था मैं, जब युवा प्रधानमंत्री के गले का हार बनने जा रहा था।... आह! विस्फोट की वह घड़ी... हाय... वह धमाका... किसे मालूम था फूल सा मुस्कराता वह चेहरा बारूद-आग की लपटों से सदैव के लिए विलुप्त हो जाएगा।' शोक पीड़ित फूल ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा।

'मुझे क्या पता था—यह अदना मानव मेरी सुकोमल पंखुड़ियों में बारूद-अग्नि छिपाकर प्रतिशोध की ज्वाला को शमन करता हुआ पशुता से नीचे गिर जाएगा।...छिः छिः राजनीति के घिनौने दलदल में फंसे मानव ने मेरे निश्छल सौंदर्य पर अविश्वास के छींटे डाल दिए।'— कहते-कहते फूल ने दोनों हाथों से अपना सिर थाम लिया।

फूल की व्यथा ने माली को उद्विग्न कर दिया। वह कुछ समझ नहीं पाया। झुंझलाकर उसने कहा—'यह कैसा मायाजाल है, क्या मैं सपना देख रहा हूं... ऐसा तो कभी नहीं हुआ? उसे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। उसने अपनी बच्ची को पुकारना चाहा। तभी नन्ही बच्ची पारो फूलों से भरी दूसरी टोकरी ले आई। पारो की उपस्थिति से उसके असहाय मन को कुछ राहत मिली।

'बाबा! बाबा!! यह देखो! मैं कितने सारे फूल ले आई हूं। अब तो खूब सारी फूलमालाएं बन जाएंगी।' —पारो ने सहज भोलेपन से कहा।

बूढ़े ने एक नजर टोकरी में रखे कुछ अधखिले, कुछ मुरझाए फूलों तथा कलियों पर डाली। सुबह की सर्द हवा का एक झोंका आया और उसे कंपा कर चला गया। माली ने अपना अंगोछा उठाया, अपने कान ढकने चाहे, ताकि उसे फिर कोई आवाज सुनाई न पड़े। लेकिन उसे फिर सुनाई दिया–

यह मासूम कलियां, यह अर्द्ध-विकसित सौंदर्य, समय से पूर्व ही जिन्हें कुचल दिया गया, आज तुम्हारी स्वार्थलिप्सा ने कलियों से खिलने का प्राकृतिक अधिकार भी छीन लिया। छिः छिः कैसी निष्ठुरता!'

फूल की इस आवाज ने माली को ऊपर से नीचे तक झकझोर दिया। भ्रष्टाचार के भण्डाफोड़ के समय गिरफ्त में आए किसी भ्रष्ट अधिकारी की तरह माली सकपका गया। वह बगलें झांकने लगा। उसका मन भागने को हुआ। एक दृढ़ आवाज सुनकर वह ठिठक गया।

'ठहरो! भागो नहीं। डरो नहीं। मैं तुम्हारी बगिया का एक बदकिस्मत फूल हूं। मेरे मालिक! आज दुनिया मेरा अनुचित रूप से प्रयोग कर रही है। मैं तुम्हें अपने दिल की बात आज कह ही डालूंगा।... मेरे अजीज! मुझे तो एक दिन डाली पर खिलने के बाद झड़ना ही है।... अब तो मुझे किसी आतंकवादी की गोली के शिकार साधारणजन के शव पर श्रद्धांजलि स्वरूप चढ़ना मंजूर नहीं। समदर्शी झलक आंखों में समाए किसी प्रस्तर प्रतिमा का श्रृंगार बनूं– यह भी मुझे स्वीकार नहीं। मानव के हर कृत्य में अब मुझे षड्यंत्रों की बू आने लगी है। मैं आज विशाल समारोह में जीवंत मूर्तियों का कण्ठहार बनूंगा। हा-हा-हा!! कण्ठहार ही कहां! गले तक तो मैं पहुंच ही नहीं पाता कि निर्मम हाथों के द्वारा उपेक्षित होकर मैं एक कोने में सिमट कर जीने के लिए मजबूर कर दिया जाता हूं।'

असहनीय पीड़ा से वह चीख उठा–'ओहो, हो! घोर उपेक्षा, कठोर यातना–मुझे किस अपराध की सजा मिल रही है? बोलो, बोलो मेरे मालिक! मेरे जीवन का अंत अगर भोले-भाले नासमझ बच्चों के कोमल-कोमल, प्यारे-प्यारे हाथों से होता तो मुझे इतना दुःख नहीं होता। पर हाय... बुद्धिजीवियों का यह व्यवहार... उनका यह सोच... उनकी यह समझ...। मैं अपना दुःखड़ा किससे कहूं, संरक्षक मेरे!' ऐसा कहते-कहते फूल उचक कर माली की गोद में जा पड़ा।

माली सिहर उठा। उसने फूल को सीने से लगा लिया। हवा का एक हलका झोंका ठिठोली करता हुआ आया तथा फूलों की सुरभि चुरा कर भाग गया।

माली की हमदर्दी पाकर वह कुछ आश्वस्त हुआ। 'मेरे मालिक! तुम्हारी मजबूरी मैं खूब समझता हूं। पुष्प-विक्रय तुम्हारा पुश्तैनी धंधा है। तुम इसे नहीं छोड़ सकते। तुम मेरे पालक हो... मैं भी तुम्हारे इस रोजगार की प्रसूति चाहता हूं। मालिक की खुशी में मेरी खुशी। आज तुम्हें खूब लाभ होगा। समारोह का समय भी अब करीब आ रहा है। दो घण्टे पहले वहां पहुंचना लाजिमी है।'

थोड़ा सोचने के बाद फूल बोला–'अच्छा तो ठीक है, तुम मुझे उन बुद्धिजीवियों के पास ले चलो। मैं चाहे कहीं भी रहूं, उनके हाथों में, चाहे मेज के कोने पर, चाहे कूड़े के कनस्तर में, मेरी पावन मुस्कान उनकी हर कृत्रिम हंसी को चिढ़ाती रहे, मेरी पंखुड़ी से निकलने वाली महक उनके षड्यंत्रों की बू को लानत भेजती रहे, घोर उपेक्षा में भी मेरी जिंदादिली उन्हें जीवन-कला का शाश्वत सौंदर्य दिखा सके, मेरा हलका सा मृदुल स्पर्श पत्थर-दिल मानव के हृदय में मानवीय भावों को जगा सके, जीवन के संकीर्ण प्रांतर से मुक्त करके उन्हें उदार बना सके। हृदय की निर्मलता, निष्कपटता ही चेहरे की मधुर मुस्कान है, मेरी हंसी का यह राज मैं उन्हें समझा सकूं।'

यह कहकर फूल ने एक ठण्डी सांस ली। हवा का एक झोंका आया, टोकरी में पड़ी कलियों को गुदगुदाने लगा। माली ने अपनी गोदी में पड़े फूल को उठाया तथा त्वरित गति से फूलमाला बनाने में जुट गया। ❑

# संगठन के आधारभूत सूत्र

✻✻✻


## साध्वी जयश्री


आदमी स्वप्न देखता है। उसके अनुरूप वह अपनी दुनिया को बनाना और समझाना भी चाहता है फिर चाहे व्यक्ति किसी भी भूमिका पर जी रहा हो, कैसे ही युग में पल रहा हो। उसे क्षेत्र, युग की सीमाएं रोक नहीं सकती, किंतु उस सृजनधर्मिता के साथ चाहिए उसे ठोस धरातल। संगठन उसका आधार बनता है। संगठन कैसा हो? किनका हो? ये सारे चिंतनीय पहलू हैं, लेकिन संगठन सर्वत्र अपेक्षित है।

संसार में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो अपनी उत्पत्ति के साथ 'अकडं-करिस्सामि' की भावना को लिए हुए ही पैदा होता है लेकिन अकेला कुछ नहीं कर सकता। महान व्यक्ति और महाशक्तियां भी असंहति में विपन्न और असहाय बन जाती हैं। उन्हें सशक्त सहयोग मिलते ही वे अपना रूप संवर्धित कर लेती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उस संवरते हुए रूप को कैसे स्थैर्य दिया जाए।

महल की प्रत्येक ईंट उसकी सुंदरता और सुदृढ़ता की प्रतीक होती है। बूंद-बूंद मिल समुद्र का शाश्वत रूप निर्मित करती है और निर्बल और नगण्य तृण संगठित बन गजेंद्र को बांधने का सामर्थ्य पैदा कर लेते हैं। इन तथ्यों की निष्पत्ति है एकता-संगठन। संगठन की प्रत्येक इकाई संगठन का नमूना होती है। उससे ही संगठन जीवन पाते हैं और उससे ही मिटते हैं। ये इकाइयां ही संगठन की जड़ को मजबूत बना देती हैं और चाहे तो उसे उखाड़ भी सकती हैं। संगठन दृढ़ता की अनेक अपेक्षाएं हैं जिनके द्वारा संगठन फलते-फूलते हैं, अपना नामोनिशान जहां में छोड़ते हैं।

### प्राणवान नेतृत्व

शास्ता संगठन का प्राण होता है। वह जितना शक्ति-सम्पन्न, तटस्थ, मिलनसार, उदार, ईमानदार और साहस का धनी होगा, संगठन उतना ही मजबूत, गौरवपूर्ण और स्थाई बनेगा। अपने स्वार्थों को ताक पर रखकर प्रत्येक सदस्य की भावना का समादर करेगा। पद के लिए नहीं लेकिन संगठन की गौरवशाली परंपरा को बनाए रखने में जान पर खेलने को तैयार हो, ऐसे शासक, नेता ही अपने साथियों को साथ ले सकने का सामर्थ्य रखते हैं। संगठन को विरोध की आग से बचा लेते हैं। अपने सक्षम नेतृत्व से अपने सदस्यों को ही नहीं, वे परिपार्श्व के वातावरण को भी बांध लेते हैं। उन संगठनों को भला कौन-सी विचार आंधी हिला सकती है? सफल नेता संगठन का सर्वेसर्वा होता है।

### सहज समर्पण

सदस्यों का सर्वात्मना समर्पण संगठन की रीढ़ है। उसके अभाव में संगठन को आकार नहीं दिया जा सकता। सदस्यों की अपनी-अपनी स्वार्थलिप्सा और अपेक्षाएं यदि संगठन को दबा रही

हों तो वह संगठन सांस लेने से पहले ही मरणासन्न बन जाएगा। आवश्यकता है प्रत्येक सदस्य में प्रथम से घूंटी की तरह समर्पण का भाव भर दिया जाए, क्योंकि शासक की दूरी और निकटता, मेहरबानी और नाराजगी, अनुकंपा और उपेक्षा समर्पित व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं होती। उसके लिए महत्त्वपूर्ण होता है अपना समर्पण। और दूर जाते ही अहंमन्यता संगठन की नींव को खोखला बना देती है।

आज तक जितने भी संगठन कमजोर बने हैं, या बन रहे हैं, उनके पीछे मुख्य कारण है—शास्ता के प्रति आंतरिक आस्था का अभाव, अविश्वास और उच्छृंखलता। फिर चाहे वे राजनैतिक संस्थान हो, धार्मिक हो या सामाजिक। समर्पण का अभाव न घर में सुख से जीने देता है और न समुदाय में। पहले व्यक्ति में अहं पैदा होता है फिर दूसरे तत्त्व जन्म लेते हैं।

समर्पित व्यक्तित्व लाभ-अलाभ, मान-अपमान, सुख-दुःख अपने से नहीं जोड़ता। जो कुछ हो रहा है सही या गलत, उसके लिए चिंतन का विषय नहीं बनता। वह बिना ऊहापोह के शासक के आदेश, इंगित और संकेत को सहजभाव से स्वीकार कर लेता है। साध्वी प्रमुखा गुलाबांजी इसकी जीवंत प्रतीक हैं। धौम्यऋषि का शिष्य उपगुप्त समर्पण का जिंदा इतिहास है। मुनि नथमलजी, अतीत के हाबू-शंभु, आचार्य महाप्रज्ञ समर्पण की अमिट निशानी हैं। हमने जाना, विकास का प्रथम चरण समर्पण के साथ उठता है और चरम का विकास इसी में जाकर विराम लेता है।

ऐसे समर्पित सदस्यों का संगठन कभी भी विशृंखलित नहीं हो सकता, टूट नहीं सकता।

## सहयोग

दृढ़ संगठन के लिए सहयोग बड़ा महत्त्वपूर्ण उपाय है। संघीय व्यक्ति की अपनी-अपनी जरूरतें हैं, इच्छाएं हैं। प्रत्येक सदस्य चाहता है मेरी आवश्यकता को प्राथमिकता दी जाए। शासक एक साथ सबकी मांगों को पूरा कर सके, यह कभी संभव नहीं। समय और स्थिति को समझ शास्ता उन्हें उचित सहयोग दे, अत्यंत अपेक्षित होता है। एक को अतिरिक्त महत्त्व और दूसरे की उपेक्षा सदस्यों में भी अन्यथा भाव भर देती हैं, उस वक्त अधिकारी के सामने विकट परिस्थिति पैदा हो जाती है। शास्ता अपनी प्रज्ञा का समुचित प्रयोग कर उन्हें आश्वस्त करें, यह अपेक्षा है। समय पर किया गया छोटा सा सहयोग भी जिंदगी भर का आभार बन जाता है। ऐसे एहसानमंद व्यक्ति उस संगठन को अपना ही घर-परिवार मानने लगते हैं। खून-पसीना बहाकर संगठन के उभरते रूप में चार चांद लगा देते हैं। संगठन के लिए सहयोग रामबाण औषधि है।

## अनुशासनप्रियता

अनुशासन के बिना संगठन टिक नहीं सकते। अच्छे संगठनों का प्रादुर्भाव अच्छे अनुशासक से ही होता है। जब तक अनुशासक के हाथ में अनुशासन की डोर रहती है तब तक सदस्य रूपी पतंग को कहां से कहां तक पहुंचाया जा सकता है, पर डोर छूटते ही पतंग नियंत्रण से बाहर हो जाती है। अनुशासनहीन संगठनों की दशा परकटे पक्षी जैसी होती है। आज हर व्यक्ति स्वतंत्र रहना चाहता है, किसी के अनुशासन में रहना नहीं चाहता। यह स्वयं अनुशासक बनना चाहता है, अनुशासित नहीं। वैसी स्थिति में शास्ता के सामने बड़ी भयंकर समस्या पैदा हो जाती है, जो स्थिति न व्यक्ति के लिए और न देश के लिए हितकर है।

अनुशासन का मूल है विश्वास, जो शासक और शासित को बांधे रखता है। शासक का वात्सल्य और शासित का समर्पण अनुशासन को बनाए रखता है। वज्जी संगठन अनुशासन की दृष्टि से बेजोड़ या अद्भुत और अद्वितीय था। लेकिन कोषिक के मंत्री द्वारा पैदा किए गए अविश्वास ने वज्जियों के सुदृढ़ संगठन को बिलकुल कमजोर बना दिया। यह अविश्वास और अनुशासनहीनता संगठनों को खत्म करने में प्रमुख भूमिका अदा करती है। आज अहंवादी मनोवृत्ति का युग है। नगण्य और दुर्बल व्यक्ति भी अंह से पूर्ण है।

'मैं ही हूं' यह दर्प संगठन की जड़ को हिला देता है। फिर व्यक्ति दलबंदी-आलोचना और निंदा जैसे तत्त्वों से अपने आपको जोड़ लेता है। वातावरण संदेह संकुल बन जाता है, आंतरिक संबंधों में द्वेष पैदा हो जाता है। शास्ता की सहज बात को भी तोड़-मोड़कर तूल दे दिया जाता है। शासित का यह रवैया शास्ता के मन में आक्रोश भर देता है। वैसी स्थिति में या तो उसकी उपेक्षा की जाए अन्यथा दलबदल वाली नीति को प्रश्रय दिया जाए। ये दोनों ही स्थितियां संगठन के लिए हितावह नहीं। संगठन के प्रारंभकाल में ही आत्मानुशासन का प्रशिक्षण दिया जाए। अनुशासित व्यक्ति स्वकेंद्रित होता है। उसके सम्मुख शास्ता का आदेश ही सर्वोपरि होता है जिसके आधार पर वह अपने जीवन का निर्माण करता है। अनुशासन संगठन को सजाता है, संवारता है। अनुशासन ज्ञान का सम्मान है। अतः अनुशासन हर स्थिति में बना रहे, संगठित सदस्यों का एकमात्र उद्देश्य रहना चाहिए।

## समानधर्मिता

समानधर्मी का मतलब है नेता और सदस्य दोनों ही अपने आपको समान समझे। मैं पद पर हूं, सर्वोपरि हूं, मेरा अतिरिक्त व्यक्तित्व है, मैं कहूंगा वही होना चाहिए, जो मेरी अवमानना करेगा उसे मैं खत्म करके ही रहूंगा, ये विचार एक कुशल नेता के मन में नहीं रहने चाहिए। पद का अभिमान व्यक्ति को गिराने वाला होता है। आज हम किसी संस्थान को कमजोर होता देखते हैं, उसमें शास्ता का अहं प्रमुखता से बोलता नजर आता है। नेता को चाहिए कि वह अपनी सेवाएं दें और अन्य सदस्यों से उचित सेवा ले। उनके बहुमूल्य सुझावों व भावनाओं का समादर करे। अधिकारी यदि नई स्थापनाओं और प्रारूपों से संगठन को नया जीवन और स्थायित्व देना चाहे तो उससे पहले प्रत्येक सदस्य की चाह को समझा जाए, क्यों और कैसे का समाधान देकर ही उसकी क्रियान्विति की जाए। एक दूसरे को समझकर यदि कार्य किया जाए तो संगठनों में पड़ती दरारें पाटी जा सकती हैं। तेरापंथ इसका जीवंत उदाहरण है। जहां तेरापंथ एकतंत्र जैसी शासन पद्धति में विश्वास कर रहा है, वहां समाजवाद को आधार मानकर आगे बढ़ रहा है। इसमें बोल रहा है आचार्यों और साधु-साध्वियों का परस्पर सौहार्द। यहां की व्यवस्थाएं ही ऐसी हैं कि कोई छोटा नहीं हैं, कोई बड़ा नहीं हैं, शिक्षित-अशिक्षित का भेद नहीं है। प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार है, इसलिए ही तेरापंथ की सानी रखने वाला कोई संस्थान नजर नहीं आता।

## कर्तव्यनिष्ठा

संगठन के प्रत्येक सदस्य में कर्तव्यनिष्ठा का होना जरूरी है। उसके बिना संस्थान विकास नहीं कर सकता। सदस्यों में जितनी गहरी श्रमनिष्ठा होगी, संगठन उतना ही प्राणवान बनेगा। सदस्यों में यदि श्रम-विमुखता, मिथ्या मूल्यांकन, झूठे मानदंड, पदलिप्सा आदि की दीमक लग गई तो फिर वह संगठन जर्जरित हुए बगैर नहीं रह सकता। भले ही फिर वह शासक योग्य हो, विधान सुंदर हो, पैसा भी अमाप हो।

संगठन का मूल्य वैभव से नहीं, श्रम से बढ़ता है। संगठन के कार्यकर्ता यदि श्रमपरायण हैं तो विरोध के तूफान उसको हिला नहीं सकते। आगे बढ़ने का प्रण लेकर चलने वाले संस्थान ही श्रमशीकरों से समाज को धन्य बनाते हैं। समाज में वर्चस्व स्थापित कर लेते हैं और दिखा सकते हैं अंधेरे में उजियारा। कर्मशील व्यक्ति चट्टानों में भी मार्ग बना लेते हैं। असंभव-अघटित को घटित करके दिखा सकते हैं, क्योंकि उनके पीछे संगठन का मजबूत आलंबन है जिसका सहारा पाकर व्यक्ति अपने आपको कृतार्थ बना सकता है। जिस प्रकार पानी के बिना मछली जी नहीं सकती, तने, शाखा-प्रशाखा के बिना फल-फूल, पत्ते जन्म नहीं ले सकते, उसी प्रकार सुदृढ़ संगठन के बिना व्यक्ति विकास नहीं कर सकता। क्योंकि संगठन शक्ति का अक्षय भंडार है, प्रपात है, जिसका स्रोत कभी सूखता नहीं। निरंतर प्रवाहित रहने के बाद भी घटता नहीं। संगठन के बिना व्यक्ति अकेला कुछ नहीं कर सकता। अतः जिस संस्था और संगठन से व्यक्ति जुड़े उसको अपनी योग्यता और क्षमता से पल्लवित-पुष्पित करता रहे। ❐

# भगवान महावीर का अपरिग्रह दर्शन

## प्रोफेसर सुमेरचंद जैन

आज से लगभग 2600 वर्ष से भी पूर्व इस धरा पर अवतरित श्रमण भगवान महावीर ने अहिंसा, अनेकांत और अपरिग्रह के महत्त्वपूर्ण सूत्र दिए। अपरिग्रह के बारे में महावीर का दृष्टिकोण रहा है—'असंविभागो न हु तस्स मोक्खो'–जो अर्थ का संविभाग नहीं करता, विसर्जन नहीं करता, वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। जीव परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है और अत्यधिक मूर्च्छा करता है। इस प्रकार परिग्रह पांचों पापों की जड़ है।

परिग्रह की लौकिक परिभाषा है—अर्थ और वस्तुओं का संग्रह। भगवान महावीर की भाषा इससे भिन्न है। यह शरीर परिग्रह है। संचित कर्म परिग्रह है। अर्थ और वस्तु परिग्रह है। चैतन्य से भिन्न जो कुछ है वह सब परिग्रह है, यदि उसके प्रति मूर्च्छा है। यदि उसके प्रति मूर्च्छा नहीं है तो कोई भी वस्तु परिग्रह नहीं है। मूर्च्छा अपने आप में परिग्रह है वस्तु अपने आप में परिग्रह नहीं है। वह मूर्च्छा से जुड़कर परिग्रह बनती है। जिसका मन मूर्च्छा से शून्य है, उसके लिए वस्तु केवल वस्तु है, उपयोगिता का साधन है, किंतु परिग्रह नहीं है। जिसका मन मूर्च्छा से पूर्ण है, उसके लिए वस्तु परिग्रह का निमित्त है। इस भाषा में परिग्रह के दो रूप बन जाते हैं— (1) अंतरंग परिग्रह—मूर्च्छा (2) बाह्य परिग्रह— वस्तु।

एक बार भगवान के ज्येष्ठ शिष्य गौतम एक रंक की ओर संकेत कर बोले—'भंते! यह कितना अपरिग्रही है? इसके पास कुछ भी नहीं है।'

— 'क्या उसके मन में भी कुछ नहीं है?'

— 'मन में तो है।'

— फिर अपरिग्रही कैसे?

— जिसके मन में मूर्च्छा है और पास में कुछ नहीं, वह परिग्रहप्रिय-दरिद्र है।

जिसके पास जीवन निर्वाह के साधन मात्र है और मन में मूर्च्छा नहीं है, वह संयमी है।

जिसके मन में मूर्च्छा भी नहीं है और पास में भी कुछ नहीं है, वही अपरिग्रही है।

स्पष्ट है कि आसक्ति व्यक्ति और पदार्थ से नहीं जुड़ती। इसका मूल स्रोत है भीतरी मूर्च्छा के संस्कार। एक योगी के लिए सिर्फ एक कंबल पूरा संसार है और अन्य योगी के लिए राजमहल भी एकांत तपोभूमि है। प्रश्न है मन कहां, कितना, किसके लिए आसक्त है?

चोर ने संन्यासी की कंबल चुराई। पकड़े जाने पर जज ने पूछा—'तुमने संन्यासी का और क्या चुराया? चोर बोला—'उसके पास सिवाय कंबल के और कुछ था ही नहीं?' जज ने संन्यासी से पूछा तो

संन्यासी ने बड़े दुःख के साथ कहा—'हां, जज साहब, वही एक कंबल मेरा पूरा संसार था। जब सोता तो मैं उसे बिछाता, उसका तकिया बनाता। ठंड लगती तो उसे ही ओढ़ता। उसी पर बैठकर पूजा-पाठ करता, मेरा तो सबकुछ वही था।'

भगवान महावीर ने सामाजिक मनुष्य को अपरिग्रह की दिशा में ले जाने के लिए परिग्रह संयम का सूत्र दिया। गृहस्थ मनुष्य अपरिग्रही नहीं हो सकता। जीवन चलाने के लिए भिक्षाजीवी नहीं हो सकता। उसके लिए महावीर ने इच्छा परिमाण-परिग्रह के सीमाकरण का विधान किया। दूसरे शब्दों में भगवान महावीर ने असंग्रह का दर्शन दिया। संग्रहशील व्यक्ति अर्थार्जन की प्रक्रिया में शोषण और अप्रामाणिकता के साथ अपना संबंध जोड़ लेता है। अर्थ के प्रति मन की आसक्ति का जब योग होता है तो विलासी जीवन जीने की चाह जागृत होती है। व्यक्ति वैसे-वैसे संग्रह करने में जुट जाता है। प्रारंभ में वह अर्थ की आवश्यकता से प्रेरित होकर अर्थ का अर्जन करता है। अर्जन के साथ अर्थ संवर्धन की कामना उसे सुविधावाद की ओर अग्रसर करती है। व्यक्ति के तीव्र प्रयत्नों से कार्य का संवर्द्धन होता है।

संग्रह की मनोवृत्ति मनुष्य से अन्याय करवाती है और सामाजिक धरातल पर विषमता के अंकुर फूट पड़ते हैं। संग्रह की दुःखद परिणति का अनुभव कर भगवान महावीर ने कहा था—इच्छाओं पर नियंत्रण करो। अनियंत्रित कामनाएं व्यक्ति से अवांछनीय कार्य करवा देती हैं। अवांछनीय परिस्थितियों से बचने के लिए संग्रह मत करो। उपभोग-परिभोग में आने वाली सामग्री का सीमांकन करो। ऐसा करने वाला व्यक्ति स्वयं स्वस्थ जीवन जी सकता है और अभाव एवं विलासिता की अतियों को तोड़ सकता है। संकट से घिरी हुई विश्वचेतना को उबारने के लिए भगवान महावीर के अपरिग्रह दर्शन अर्थात् असंग्रह दर्शन को समझना होगा। जब तक व्यक्ति के मन में संग्रह की अभीप्सा का अंत नहीं होगा, विश्वव्यापी संकट का सामना नहीं हो सकता।

यह स्मरणीय है कि भगवान महावीर ने मुनि के लिए अपरिग्रह का विधान किया है, गृहस्थ के लिए उन्होंने अपरिग्रह जैसे शब्द का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने इच्छा-परिमाण की बात कही। गृहस्थ को इच्छा-परिमाण करना चाहिए। जो आकाश की तरह अनंत इच्छाएं है, उसकी कोई न कोई सीमा करनी चाहिए।

सीमा के लिए उन्होंने दो बातें बतलाई—पहली बात अर्जन के साधन अशुद्ध नहीं होने चाहिए। अप्रामाणिक नहीं होने चाहिए। महावीर की पूरी आचार-संहिता है गृहस्थ के लिए। उसमें अप्रामाणिकता के जितने व्यवहार हैं, उन सबका वर्णन किया है। दूसरी बात है—अर्जित धन का उपयोग अपने विलास के लिए न किया जाए, व्यक्तिगत संयम किया जाए। ये दोनों बातें होती है तो फिर कितना ही कमाए, इस पर कोई नियंत्रण नहीं होता।

एक व्यक्ति शुद्ध साधन द्वारा कमाता है, लाखों-करोड़ों कमा लेता है। कमा लेने पर उसका उपयोग वह अपने लिए नहीं करता। अपने लिए पूरा संयम करता है जैसे आनंद श्रावक का जीवन था। करोड़ों की संपदा, करोड़ों का व्यापार किंतु अपने लिए बहुत संयमी। ये दो शर्तें हैं—गृहस्थ के लिए अपरिग्रह की प्रारंभिक भूमिका की। ये दोनों महत्त्वपूर्ण है।

अपरिग्रही से अहिंसा फलित होती है। यह सर्वथा मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य हिंसा के लिए परिग्रह का संचय नहीं करता किंतु परिग्रह की सुरक्षा के लिए हिंसा करता है, जैसे-जैसे अपरिग्रह का विकास होता है, वैसे-वैसे अहिंसा का विकास होता है।

स्पष्ट है कि महावीर का अपरिग्रह दर्शन आज के युग में व्याप्त आर्थिक विषमता का समाधान देता है। भारत जैसे देश में करोड़ों-अरबों रुपए के होने वाले घोटालों के पीछे मूल कारण अनियंत्रित इच्छाएं, उनकी पूर्ति की लालसा और संग्रह की प्रवृत्ति है। भगवान महावीर का इच्छा-परिमाण सिद्धांत ही इस गहन तिमिर में प्रकाश की एक किरन है। ❐

# धर्म का इतिहास

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

धर्म का इतिहास होता है समुज्ज्वल,
सांप्रदायिकता इसे धूमिल बनाए,
गौण होता है जहां आचार नर का,
रूढ़ता अपने वहीं पर पग जमाए।।

हो नहीं चिंता जिसे इस जिंदगी की,
धर्म वह परलोक को कैसे सुधारे,
छेद छोटा या बड़ा हो मध्य जिसके,
डूबते को किस तरह वह नाव तारे,
किया पूजापाठ कितना ही निरंतर,
कौन नैतिकता बिना आनंद पाए।।

रूढताओं के किले में कैद रहकर,
धर्म किसको मुक्ति की आश्वस्ति देगा?
जन्म देगा तो समस्या को स्वयं ही,
मुश्किलों का सिंधु वह कैसे तरेगा?
उग सकेंगी शांति की फसलें वहीं पर,
खाद प्रायोगिक जहां जी भर बिछाए।।

धर्म पर मजहब हुआ हावी अगर तो,
क्यों नहीं उसका अमित गौरव घटेगा?
सत्य सूरज को ढका जिसने अचानक
भरम का कैसे कुहासा वह हटेगा?
है नहीं संकीर्णता जिसमें कहीं भी,
उस अयन पर क्यों नहीं सब मनुज आएं?

# अनेकान्त प्रिय आचार्य श्री भिक्षु

मुनि मदनकुमार

...गतांक से आगे

आश्रव से कर्म का ग्रहण होता है, संवर से कर्म का निरोध होता है और निर्जरा से कर्म का क्षय होता है। ये तीनों भाव जीव हैं– जीव की पर्याय हैं। भाव जीव होने से ये शाश्वत हैं। सिद्धावस्था में ये तीनों ही नहीं पाए जाते हैं। इन तीनों के स्वरूप को आचार्य श्री भिक्षु ने बहुत सुंदर ढंग से निरूपित किया है–

**काम भोग सूं पामें आरामो, ते संसार थकी जीव स्हांमो।**
**ते तो आश्रव छै भाव जीव, तिण सूं लागे छै कर्म अजीव।।**
**काम भोग थकी नेह तूटो, ते संसार थकी छै अपूठो।**
**ते संवर निरजरा भाव जीव, जब रुके तूटे कर्म अजीव।**

आश्रव जीव का परिणाम है, जीव की पर्याय है और कर्मों का कर्ता है, अतः जीव है। जीव के शुभाशुभ परिणाम जीव ही है। आश्रव कर्म आने का द्वार है, अतः आश्रव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं। आश्रव जीव है और कर्म अजीव है। आश्रव के पांच प्रकार हैं– मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। मिथ्यात्व दर्शन आत्मा है, अव्रत अन्य आत्मा है, प्रमाद अन्य आत्मा है, कषाय कषाय आत्मा है और योग योग आत्मा है। इससे सिद्ध है कि आश्रव तत्त्व जीव है। जो जीव होता है, वही सावद्य या निरवद्य होता है। इन पांच आश्रवों में प्रथम चार आश्रव सावद्य हैं तथा योग आश्रव सावद्य और निरवद्य दोनों हैं। अशुभ योग सावद्य है और शुभ योग निरवद्य है। जो सावद्य है वह आज्ञा बाहर है और जो निरवद्य है वह भगवान की आज्ञा में हैं। आश्रव तत्त्व की मीमांसा करते हुए आचार्यश्री भिक्षु ने लिखा है—

**आश्रव दुवार तो जीव छें, जीव रा भला भूंडा परिणांम।**
**भला परिणांम पुन रा बारणा, भूंडा पाप तणा छे तांम।।**
**केर मूढ मिथ्याती जीवड़ा, आश्रव ने कहे छें अजीव।**
**त्यां जीव अजीव न ओलख्या, त्यारे मोटी मिथ्यात री नींव।।**

आश्रव प्रतिपक्षी संवर है। ये दोनों जीव हैं। जब आश्रव घटता है तो संवर बढ़ता है। जब संवर घटता है तो आश्रव बढ़ता है। गुणस्थान आरोहण में आश्रव तत्त्व घटता जाता है और संवर तत्त्व बढ़ता जाता है। चौदहवें गुणस्थान में आश्रव समाप्त हो जाता है, आत्मा अनाश्रवी बन जाती है और संवर का परिपूर्ण विकास हो जाता है।

## आश्रव विषयक प्रसंग

लाटोती में खतरगच्छ के श्री पूज्य जिनचन्द सूरि आए। उपाश्रय में बहुत लोगों की उपस्थिति में वे बोले— आश्रव जीव है। उस धर्म सभा में आचार्य श्री भिक्षु के श्रावक चैनजी श्रीमाल उपस्थित थे। वे विनयपूर्वक बोले—'श्रीजी महाराज! आश्रव जीव है।' तब श्रीपूज्यजी ने कहा—'आश्रव अजीव है।' तब चैनजी पुनः

बोले—'आश्रव जीव है।' तब पूज्यजी बोले—'तेरी धारणा गलत है।' चैनजी भी बोल पड़े—'आपकी धारणा ही गलत है।' तब श्री पूज्यजी को कहना पड़ा—'यह चर्चा हम बाद में करेंगे।' व्याख्यान संपन्न हो गया और लोग चले गए। श्री पूज्यजी ने चर्चावादी और सिद्धांतों की जानकारी रखने वाले यतियों को बुलाया। वे आए, तब कहा—'आप सूत्रों को देखो, आश्रव जीव है या अजीव? यह निर्णय करो।' उन चर्चावादी यतियों ने निर्णय कर कहा—'महाराज! सूत्र के अनुसार तो आश्रव जीव है। तब श्री पूज्यजी ने चैनजी श्रीमाल को बुलाया तथा अनुताप प्रकट करते हुए बोले—'आश्रव जीव है। मैंने आज प्रवचन में अजीव कहा था, इसलिए मेरे मिच्छामि दुक्कडं है। तुम्हारे से मेरे खमत खामणा है। अभी तो मैं कह रहा हूं। क्षमापना तो कल परिषद में होगी।' दूसरे दिन प्रभात के व्याख्यान में भरी परिषद में श्री पूज्यजी बोले—'चैनजी! मैंने कल आश्रव को अजीव कहा था और तूने जीव कहा था। तू सच्चा है और मैं झूठा, इसलिए मेरे मिच्छामि दुक्कडं है। तेरे से खमत खामणा है।' इस तरह सत्य को स्वीकार करने वाले और निरभिमानी पुरुष संसार में विरल ही होते हैं।

विक्रम संवत 1869 में किशनगढ़ में आचार्यश्री भारमलजी ने आश्रव तत्त्व विषयक शास्त्रार्थ में आश्रव के जीव होने के संदर्भ में सुंदर समाधान दिया था। उन्होंने कहा था—'आश्रव के द्वारा कर्मों का ग्रहण होता है। इसका अर्थ हुआ कि जीव की उस परिणति का नाम आश्रव है, जिसमें कर्मों का ग्रहण किया जाता है। अजीव कभी कर्मों का ग्रहण नहीं कर सकता। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि गृहस्थ पहले आश्रवी (आश्रवयुक्त) होता है, बाद में जब वह संयम ग्रहण करता है तब संवरी (संवर युक्त) बन जाता है। संवर को आप लोग भी जीव मानते हैं। आप आश्रव को अजीव कहते हो तो क्या वह अजीव से जीव बन गया? इसी प्रकार यदि कोई साधु संयम छोड़कर गृहस्थ बन जाता है तो वह संवर दशा से आश्रव दशा में चला जाता है, तो क्या वह जीव से अजीव बन गया? आपके हिसाब से वह साधु था तब तक संवरी था, अतः जीव था और गृहस्थ हो गया तब आश्रवी हो गया, अतः अजीव हो गया।' इस चर्चा से सिद्ध होता है कि आश्रव जीव है, अजीव कदापि नहीं है। आश्रव को अजीव मानना मिथ्यात्व मूलक है।

शुभ योग संवर नहीं है। कुछ लोग शुभ योग को संवर मानते हैं, यह भी मिथ्यात्व मूलक है। शुभ योग पुण्य बंध और आत्म उज्ज्वलता का हेतु है। अतः आश्रव और निर्जरा है। शुभ योग संवर क्यों नहीं है? इस तथ्य को जानने के लिए चर्चा का अवलंबन लेना चाहिए। रीयां में राजमलजी बोहरा रतनजी के पास गए। चर्चा के प्रसंग में रतनजी बोले—'शुभ योग संवर है।' तब राजमलजी ने कहा—'संवर का स्वभाव तो कर्म रोकने का है और शुभ योग से तो पुण्य बंधते हैं, रुकते नहीं है। इसलिए शुभ योग संवर किस न्याय से है? तब रतनजी बोले—'शुभ योग प्रवर्तमान हो उस समय अशुभ योग के कर्म नहीं लगते हैं, इस न्याय से शुभ योग संवर है। तब राजमलजी बोहरा बोले—'इस हिसाब से तो अशुभ योग को भी संवर कहो, क्योंकि अशुभ योग प्रवर्तमान हो उस समय शुभ योग के कर्म नहीं लगते हैं। तब रतनजी सत्य को स्वीकार करते हुए बोले—'सूत्र में तो अयोग संवर ही कहा है, पर हमारी परंपरा में शुभयोग को संवर कहते हैं।

संवर के बिना मोक्ष नहीं है। अतः संवर श्रेष्ठ तत्त्व है और अनुत्तर धर्म है। सम्यक्त्व के बिना संवर नहीं होता है और संवर के बिना मोक्ष नहीं होता है। जितने भी जीव संसार से मुक्त हुए हैं, उन्होंने निस्संदेह संवर धर्म की आराधना की है। संवर के बिना कर्म निरोध कहां? कर्म निरोध के बिना मोक्ष कहां? संवर और मोक्ष तत्त्व का मूलाधार सम्यक्त्व है। इस सचाई को प्रकट करते हुए आचार्य श्री भिक्षु ने लिखा है—

आश्रव दुवार करमां रा बारणां, ढंकीयां छें संवर दुवार, आतमा वश कीयां संवर हूओ, ते गुण रतन श्रीकार।।
संवर पदारथ ओलख्यां विनां, संवर न नीपजे कोय, संका कोइ मत राखजो, सूतर सांह्मो जोय।।

संवर कर्म निरोधात्मक है। उसके पांच प्रकार हैं— 1. सम्यक्त्व—मिथ्यात्व की निवृत्ति 2. व्रत—त्याग भाव 3. अप्रमाद—धर्म के प्रति उत्साह 4. अकषाय—राग-द्वेष का अभाव 5. अयोग—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोध। प्रथम दो का प्रत्याख्यान होता है, शेष तीन आत्म-विशोधि से प्राप्त होते हैं। आचार्यश्री भिक्षु ने लिखा—

**समकित संवर ने सर्व विरत संवर,**
**ऐ तो हुवें छें कीयां पचखांण।**
**अपरमाद अकषाय अजोग संवर हुवे,**
**ते तो करम खय हूआं जांण।।**

प्राणी मात्र- सभी छद्मस्थ जीवों में क्षायोपशमिक भाव पाया जाता है अर्थात् यत्किंचित् आत्म उज्ज्वलता सदा रहती है। इस आत्म-विशोधि को निर्जरा तत्त्व कहा जा सकता है। यह उसके जीवत्व की पहचान है। चार-घाती कर्मों का क्षयोपशम सभी छद्मस्थ जीवों में पाया जाता है, जिससे स्वल्प उज्ज्वलता जीव मात्र में सदा ही बनी रहती है। इस सचाई को अभिव्यक्त करते हुए आचार्य श्री भिक्षु ने लिखा है—

**आठ करमां में च्यार घण घातीया,**
**त्यांसूं चेतन गुणां री हुइ घात।**
**ते अंस मात्र क्षय उपसमा रहे सदा,**
**तिण सूं उजलो रहें अंसमात।।**

निर्जरा और मोक्ष तत्त्व स्वरूप की दृष्टि से अभिन्न है और मात्रा की दृष्टि से भिन्न है। आत्मा की आंशिक उज्ज्वलता निर्जरा है और संपूर्ण उज्ज्वलता मोक्ष है। उज्ज्वलता की दृष्टि से दोनों समान हैं। आंशिक उज्ज्वलता बढ़ते-बढ़ते जब संपूर्ण उज्ज्वलता में परिणत हो जाती है तब निर्जरा मोक्ष तत्त्व कहलाती है। निर्जरा और मोक्ष के स्वरूप को बताते हुए आचार्य श्री भिक्षु ने लिखा है—

**देस थकी जीव उजलो हुवें,**
**तिणनें निरजरा कही भगवान।**
**सर्व उजल ते मोक्ष छें,**
**ते मोक्ष छें परम निधांन।।**

निर्जरा के तीन प्रकार हैं—सहज, अकाम और सकाम। कर्म उदय में आते हैं और अपना फल देकर आत्मा से पृथक हो जाते हैं, सदा काल से होने वाला यह निर्जरण सहज निर्जरा के अंतर्गत है। नरकादि-गतियों में दुःख भोगने से कर्म विलग होते हैं और जीव हलका होता है, इसे सहज निर्जरा कहना चाहिए। इसे विपाकी निर्जरा भी कहा जा सकता है। यह प्रयत्न सापेक्ष नहीं है। अतः इसे निर्जरा तत्त्व के अंतर्गत नहीं माना है। यह निर्जरण अनादि काल से चल रहा है। इससे कोई गरज नहीं सरती है। निर्जरा तत्त्व के अंतर्गत अविपाकी निर्जरा है जो प्रयत्न सापेक्ष अर्थात् उदीरणापूर्वक है। इस निर्जरा के दो भेद हैं—सकाम और अकाम। इन दोनों प्रकार की निर्जरा के साथ पुण्य का बंध होता है। निर्जरार्थी या मोक्षार्थी के शुभ योग से सकाम निर्जरा होती है। आत्म-शुद्धि के लिए की जाने वाली निर्जरा सकाम और अन्य दृष्टि से की जाने वाली अथवा अपने आप होने वाली निर्जरा अकाम है। ये दोनों प्रकार की निर्जरा निरवद्य और जिनाज्ञा में है। अकाम निर्जरा में अल्प मात्रा में आत्म-विशोधि होती है। इहलोक के लिए तपस्या करना, परलोक के लिए तपस्या करना, यश और गौरव दृष्टि के लिए तपस्या करना आदि अकाम निर्जरा है। वास्तव में तप अकाम और सकाम होता है, निर्जरा नहीं। निर्जरा तो आत्म उज्ज्वलता रूप ही है। सकाम निर्जरा होती हैं जिनमें विशिष्ट आत्म-लाभ होता है। अकाम निर्जरा में तप निरवद्य होता है, आत्म विशोधि की भावना नहीं होती है अथवा वांछा सावद्य होती है, अतः आत्म लाभ स्वल्प होता है। अभव्य जीवों के केवल अकाम निर्जरा होती है तथा मिथ्यात्वी आदि जीवों के सकाम और अकाम दोनों प्रकार की निर्जरा होती है। आचार्य श्री भिक्षु के शब्दों में निर्जरा धर्म का अवलंबन लेने वाला संवर और मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है।

**बारे परकारे तप निरजरा री करणी,**
**जे तपसा करे जांण।**
**ते करम उदीर उदे आंण खेरे,**
**त्यांने तेड़ी होसी निरवांण।।**

क्रमशः...

# तेरापंथ शासन का कार्यकारी हस्ताक्षर महासभा

## महासभा का इतिहास

लेखक
मुनि सुमेरमल (मंत्रीमुनि) लाडनूं

संपादक
मुनि उदितकुमार

गतांक से आगे...

तेरापंथी सभा के सभापति अध्यक्ष कालूरामजी धाड़ेवा (फर्म—चैनरूप संपतराम, सरदारशहर के मुनीम) चुने गए। सेक्रेटरी श्री केशरीचंदजी कोठारी (चूरू) तथा कोषाध्यक्ष श्रीचंद गणेशदास गधैया नियुक्त हुए। मीटिंग में यह भी तय हुआ कि पत्र-व्यवहार का सारा कार्य मंत्री श्री कोठारी देखेंगे। उनकी गद्दी 148, कोटन स्ट्रीट थी इसलिए सभा का कार्यालय एक बार वहीं रखा गया। अर्थ की व्यवस्था का दायित्व श्रीचंद गणेशदास (133 मनोहरदास कटरा) को सौंपा गया। बाद में चंदे द्वारा पूर्ति करने का निर्णय लिया गया।

पहली कार्यकारिणी में तीन पदाधिकारियों के अलावा दस व्यक्ति और थे— रावतमलजी सेठिया (सरदारशहर), फूसराजजी पटावरी (सरदारशहर : ये बाद में मुनि बने), सौभागमलजी बांठिया (जयपुर), गिरधारीलालजी बोथरा (लाडनूं), जेसराजजी कठोतिया (सुजानगढ़), जोरावरमलजी बैद (रतनगढ़), दुलीचंदजी सेठिया (लाडनूं), हजारीमलजी नाहटा, तिलोकचंदजी बोरड़ (लाडनूं), फूसराजजी दूगड़ (सरदारशहर)। मीटिंग का कोरम तेरह में से सात सदस्यों का रखा गया। इसके साथ यह भी तय हुआ कि प्रति रविवार तेरापंथी सभा की मीटिंग रखी जाए।

### तेरापंथी सभा की पहली मीटिंग

28 अक्टूबर 1913 को तेरापंथी सभा की स्थापना के बाद 2 नवम्बर 1913 को कार्यकारिणी की पहली बैठक मारवाड़ी चेम्बर ऑफ कॉमर्स (पारख कोठी) के हॉल में होनी तय थी, किंतु व्यवस्थागत अड़चनों के कारण यह बैठक 15, पांचा गली (वर्तमान नाम-नूरमल लोहिया लेन) में थानसिंह कर्मचंद (बीदासर के दूगड़) के कमरे में हुई। आगे की मीटिंग भी वहीं पर करने का निर्णय लिया गया।

### तेरापंथी सभा का पहला कार्यालय

तेरापंथी सभा की 31 जुलाई 1914 की मीटिंग में यह सुझाव आया कि सभा के कार्यालय हेतु किसी मकान को किराए पर लिया जाए। इसके लिए चार व्यक्तियों को यह दायित्व सौंपा गया। वे थे— 1. सूरजमलजी भूतोड़िया, 2. रावतमलजी सेठिया, 3.बुधमलजी पींचा, 4. तिलोकचंदजी सुराणा। इन्हें एक सप्ताह में रिपोर्ट पेश करने को कहा। 9 अगस्त को इस कमेटी ने मकान संबंधी रिपोर्ट पेश की। इस कार्य के

लिए निर्णायक कार्यवाही करने का दायित्व गणेशदासजी गधैया व रावतमलजी सेठिया को सौंपा गया। दोनों महानुभावों की रिपोर्ट के आधार पर 23 अगस्त 1914 को हुई मीटिंग में सर्वसम्मति से 71, क्लाइव स्ट्रीट के मकान का कुछ भाग किराए पर ले लिया। मीटिंग आदि आगे के सारे कार्यक्रम वहीं पर करने का निर्णय लिया। 30 अगस्त 1914 को इसी किराए पर लिए 71, क्लाइव स्ट्रीट के मकान में पहली मीटिंग हुई। इसके बाद सभा का कार्यालय 30/2 क्लाइव स्ट्रीट, 28 स्ट्राण्ड रोड़, 156 सुता पट्टी, 156 हरिसन रोड़ व 201 हरिसन रोड़ स्थानांतरित होता हुआ अंत में अपने निजी मकान नं. 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट आ गया।

## ट्रस्ट बोर्ड का गठन

16 अगस्त 1914 को थानसिंह कर्मचंद, 15 नूरमल लोहिया लेन में हुई सभा की मीटिंग में तय हुआ कि समाज के सहयोग से चंदा लिया जा रहा है उसका समुचित उपयोग हो व पारदर्शिता बनी रहे, इस हेतु विधान के अनुसार सात ट्रस्टियों की नियुक्ति हुई। ये सातों कलकत्ता के प्रतिष्ठित फर्म थे। समाज का इन पर पूरा भरोसा था। इस तरह पहली बार बने ट्रस्ट बोर्ड के सदस्य थे—

1. चैनरूप संपतरामजी दूगड़ (सरदारशहर)
2. तेजपाल वृद्धिचंदजी सुराणा (चूरू)
3. श्रीचंद गणेशदासजी गधैया (सरदारशहर)
4. बींजराज हुकमचंदजी बैद (रतनगढ़)
5. जेसराज जैचंदलालजी बैद (राजलदेसर)
6. रतनचंद शोभाचंदजी
7. हजारीमल मुलतानमलजी।

## पुस्तकालय का प्रारंभ

30 अगस्त 1914 को सभा का ऑफिस 71, क्लाइव स्ट्रीट में आते ही विद्यालय व पुस्तकालय की योजना बनने लगी। 4 अक्टूबर 1914 की मीटिंग में पुस्तकालय प्रारंभ करने का निर्णय लिया गया। मीटिंग में पुस्तकालय का दायित्व रायचंदजी सुराणा (चूरू) को सौंपा।

## विद्यालय का प्रारंभ

तेरापंथी सभा पुस्तकालय के साथ विद्यालय प्रारंभ करने के संदर्भ में पूरी जागरूक थी। कार्यालय 30/8 क्लाइव स्ट्रीट आ गया, वहां जगह की अनुकूलता थी। पूर्ण चिन्तन-मंथन के साथ 14 मई 1916 तदनुसार वैशाख शुक्ला 12, सं. 1973 के दिन तेरापंथी विद्यालय की विधिवत स्थापना हुई। छोगमलजी चौपड़ा, प्यारचंदजी तलेसरा ने शिक्षा व विद्यालय स्थापना के उद्‌देश्य को स्पष्ट किया। विद्या का महत्त्व बतलाया।

## पहला वार्षिक अधिवेशन

24 मई 1914 को कलकत्ता में तेरापंथी सभा का पहला वार्षिक अधिवेशन हुआ। चुनाव विधिवत तथा सर्वसम्मति से हुआ। साथ में सभा की कार्यकारिणी में अधिक से अधिक गांवों के लोगों का प्रतिनिधित्व हो, ऐसा निर्णय लिया गया। सभा का व्यापक स्वरूप पहले वर्ष में ही बन गया था। कलकत्ता में उस समय में जितने गांवों के लोग रहते थे, सभी गांवों को प्रतिनिधित्व दिया गया—

| | | | |
|---|---|---|---|
| अध्यक्ष | : रिद्धकरणजी सुराणा | उपाध्यक्ष | : अमोलखचंदजी बेगानी |
| मंत्री | : केशरीचंदजी कोठारी | उपमंत्री | : छोगमलजी चौपड़ा |
| कोषाध्यक्ष | : श्रीचंद गणेशदासजी गधैया | हिसाब परीक्षक | : गुलाबचंद भैरूदान |

उक्त पदाधिकारियों के अतिरिक्त कार्यकारिणी के 77 सदस्य चुने गए। इसमें क्षेत्रवार प्रतिनिधित्व इस प्रकार था— सरदारशहर-12, लाडनूं-10, चूरू-6, राजलदेसर-4, रतनगढ़-4, सुजानगढ़-6, बीदासर-3, छापर-3, मोमासर-2, चाड़वास-1, श्रीडूंगरगढ़-1, बीकानेर-3, डीडवाना-1, पड़िहारा-1, देशनोक-2, गंगाशहर-1, भीनासर-1, जयपुर-1, नोहर-1, सिरसा-1, राजगढ़-2, तारानगर-2, रामगढ़-1, रतननगर-1, फतेहपुर-1, ददरेवा-1, भादरा-1, लूणकरणसर-1, रासीसर-1 और किराड़ा-1।

तीस क्षेत्रों के 77 सदस्यों को कार्यकारिणी में लेना इस बात का साक्षी है कि सभा को व्यापक जनाधार प्रदान करने का कार्यकर्ताओं के मन में सार्थक चिंतन रहा होगा। वरना इतनी बड़ी कार्यकारिणी बनाने की कल्पना नहीं की जा सकती। लगता है उस समय में इतने क्षेत्रों के लोग कलकत्ता में व्यवसायरत थे। अन्य क्षेत्रों के होते तो संभवतः उन्हें भी लिया जाता।

## सभा 'महासभा' के रूप में अभिहित

श्री नाथूलालजी चुन्नीलालजी नवलखा (लावासरदारगढ़) का 17 मार्च 1946 का लिखा पत्र कलकत्ता तेरापंथी सभा को मिला। उसमें यह सर्वप्रथम सुझाव आया कि अब देश में अनेक क्षेत्रों में तेरापंथी सभाएं अस्तित्व में आ गई हैं। कलकत्ता की तेरापंथी सभा पूरे राष्ट्र की है, अतः इसका नाम कुछ उसी तरह का होना चाहिए। इसके लिए सभा के आगे 'महा' शब्द जोड़कर महासभा कर दिया जाए।

30 जनवरी 1947 को चूरू में तेरापंथी विद्यालय में तेरापंथी सभा, कलकत्ता का 34वां वार्षिक अधिवेशन आयोजित हुआ, जिसमें नवलखाजी का उपरोक्त पत्र रखा गया। इस बारे में श्रीचंदजी रामपुरिया का विचार था कि सभा के साथ 'अखिल भारतीय' शब्द को जोड़ा जाना उपयुक्त है। इस पर काफी चिंतन चला।

सभा के अध्यक्ष छोगमलजी चौपड़ा का चिंतन था–'अखिल भारतीय करने पर सभा भारत तक सीमित रहेगी। सभा का दायरा देश-विदेश में जहां भी तेरापंथी हों, सब जगह का है, अतः 'महासभा' नाम रखा जाए।' सर्वसम्मति से सभा का नाम अब जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा हो गया। सभा की स्थापना के चौंतीस वर्ष के बाद सभा 'महासभा' के रूप में अभिहित हो गई।

## सभा की स्थापना व आचार्य तुलसी का जन्म

यह भी संयोग ही था कि तेरापंथी सभा का निर्माण और युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी का जन्म साथ-साथ हुआ। तेरापंथ के अभ्युदय में दोनों का ऐतिहासिक योगदान रहा। विकास का बीजवपन पूज्य कालूगणी के शासन काल में हो चुका था, किंतु उसका पल्लवन आचार्य तुलसी के शासन काल में हुआ। तेरापंथ को विस्तार मिला, आए दिन होने वाली छिछले स्तर की आलोचना, प्रत्यालोचना से छुटकारा मिला। अनेक तूफानों व झंझावातों के बीच में से तेरापंथ ने जिस दक्षता से जो रास्ता बनाया, उस सबका श्रेय आचार्यश्री तुलसी एवं उनके तत्कालीन प्रबुद्ध शिष्य समुदाय के साथ ही अनुशासित श्रावक समाज को भी है।

जैन समाज में आज जिस ऊंचाई पर तेरापंथ है, वह आचार्य तुलसी के उदात्त पुरुषार्थ का ही प्रतीक है। उनकी जनकल्याणी कल्पना, संप्रदायमुक्त व मानवता के अभ्युदय की योजना, उनके अंतेवासी शिष्यों द्वारा समर्पित पुरुषार्थ, साथ में श्रावक समाज का विवेकपूर्ण सहयोग- इन सबसे नए वातावरण का सृजन हुआ, तेरापंथ की नई पहचान बनी।

क्रमशः...

# जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा द्वारा मर्यादा महोत्सव के अवसर पर आयोजित विभिन्न कार्यक्रम

## मिलन गोष्ठी

टापरा में आयोजित 149वें मर्यादा महोत्सव के पावन अवसर पर जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के तत्त्वावधान में संबोधन अलंकरण प्राप्तकर्ताओं तथा उनके पारिवारिकजनों की एक मिलन गोष्ठी दिनांक 13 फरवरी, 2013 को अपराह्न 3 बजे आयोजित की गई, जिसमें महासभा के पदाधिकारीगण, ट्रस्टीगण, देश भर से पधारे संबोधन अलंकरण प्राप्तकर्तागण और उनके परिवार के लगभग 700 सदस्य उपस्थित थे।

महासभा के अध्यक्ष श्री हीरालाल मालू ने स्वागत करते हुए कहा कि यह महासभा का सौभाग्य है कि उसे पूज्यवरों द्वारा संबोधन प्राप्त समाज के ऐसे निष्ठावान, समर्पित और सिरमौर श्रावक-समाज को सम्मानित करने का अवसर प्राप्त हुआ है, जिन्होंने पूरे धर्मसंघ तथा समाज की कीर्ति पताकाएं फहराई हैं। इस समाज ने अपनी अनुकरणीय जीवन शैली तथा धर्म के प्रति गहरी निष्ठा और गुरु के प्रति श्रद्धा भावना के द्वारा यह सिद्ध किया है कि यह एक सर्वश्रेष्ठ समाज है। तेरापंथ धर्मसंघ के क्रांतदर्शी आचार्यों ने जैन धर्म के जिन शाश्वत मूल्यों को अपनाने पर सर्वाधिक बल दिया है उसके प्रति संपूर्ण आस्था इस समाज का प्रधान गुण है और इसी बुनियाद पर तेरापंथ समाज ने आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक और मानवतावादी क्षेत्रों में अभूतपूर्व कार्य किए हैं। आचार्य श्री महाश्रमण मर्यादा महोत्सव आयोजन समिति, टापरा के संयोजक श्री शांतिलाल संकलेचा ने उपस्थित जनों का स्वागत किया।

कार्यक्रम का संयोजन एवं अलंकरण प्राप्तकर्ताओं का परिचय प्रस्तुत करते हुए महासभा के उपाध्यक्ष श्री किशनलाल डागलिया ने उपस्थित जनों को महासभा द्वारा किए जा रहे विभिन्न कार्यों के बारे में जानकारी प्रदान की। उन्होंने कहा कि महासभा संघीय निर्देश के अनुसार जिन दायित्वों का निर्वहन कर रही है, वे संघ और समाज हित में बहुत ही महत्त्व रखते हैं। उन्होंने महासभा द्वारा संचालित गतिविधियों—मेधावी छात्र प्रोत्साहन योजना, महासभा शिक्षा सहयोग योजना, ज्ञानशाला, उपासक श्रेणी, सहभागिता योजना, जैन भारती और अभ्युदय के प्रकाशन आदि के साथ ही आचार्य महाप्रज्ञ स्मारक स्थल, आचार्य श्री तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष एवं महासभा शताब्दी वर्ष का भी उल्लेख किया। उन्होंने प्रेरणा दी कि गुरुवरों से प्राप्त यह संबोधन हमें अपने गुणों को और भी विकसित करने का अवसर देता है तथा हमारे दायित्वबोध की वृद्धि करता है। सभी संबोधन प्राप्तकर्ता परिवार संघ तथा महासभा के साथ सक्रिय रूप से जुड़ कर विकास में योगभूत बनें।

महासभा के महामंत्री श्री बिनोद कुमार चोरड़िया ने इस अवसर पर कहा कि प्रतिवर्ष मर्यादा महोत्सव के अवसर पर पूज्यप्रवर के सान्निध्य में आयोजित संबोधन अलंकरण कार्यक्रम में संबोधन प्राप्तकर्ताओं/उनके पारिवारिकजन को सम्मानित किया जाता है, जिससे समाज के श्रेष्ठ श्रावक-श्राविकाओं के उदात्त जीवन, तप, त्याग, सेवा सहित उनकी गुरुभक्ति, निष्ठा और समर्पण का तो मूल्यांकन होता ही है साथ ही समाज के समक्ष एक उदाहरण भी प्रस्तुत होता है।

इस अवसर पर अनेक संबोधन प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं एवं पारिवारिकजनों ने महासभा की विविधमुखी गतिविधियों के विकास हेतु अनुदान की घोषणा की। महासभा के उपाध्यक्ष श्री विमल सुराणा ने पूज्यप्रवर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए गोष्ठी में

उपस्थित संबोधन प्राप्तकर्ताओं तथा पारिवारिकजनों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित किया।

## संबोधन अलंकरण कार्यक्रम

परम पूज्य आचार्य श्री महाश्रमणजी के सान्निध्य में दिनांक 14 फरवरी, 2013 को जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा द्वारा संबोधन अलंकरण प्राप्तकर्ताओं को सम्मानित करने का कार्यक्रम आयोजित किया गया, जिसमें पूज्य प्रवरों द्वारा समय-समय पर विभिन्न संबोधनों से अलंकृत देश भर के 251 श्रावक-श्राविकाओं को अलंकृत किया गया।

आचार्य श्री महाश्रमणजी ने इस अवसर पर अपना उद्बोधन देते हुए कहा कि 'समाज के श्रावक-श्राविकाओं के सद्गुणों, सेवाओं तथा समाज हित में किए गए कार्यों का अंकन करते हुए दिए गए संबोधन आत्मा के उत्थान की दिशा में प्रेरणा का कार्य करते हैं और संबोधन प्राप्तकर्ताओं को आत्म साधना के लिए गतिशील बनाते हैं। इन संबोधनों से जहां संबोधन प्राप्तकर्ताओं को सम्मान प्राप्त होता है, वहीं उन पर जीवन, समाज और संघ के प्रति अनेक उत्तरदायित्व भी आ जाते हैं। उनसे अपेक्षा होती है कि उनका सांसारिक जीवन और भी सुंदर बने तथा वे अच्छे कार्यों के प्रति ज्यादा सचेष्ट हों, उनमें धर्म के प्रति अधिक आस्था पैदा हो और वे आत्मोन्नयन की दिशा में अग्रसर हों। आचार्यश्री ने कहा कि संबोधन प्राप्तकर्ताओं के कार्यों को अंकित करके महासभा इतिहास रचती है।

महासभा के अध्यक्ष श्री हीरालाल मालू ने कहा कि आज का दिन श्रावक समाज की सेवा के मूल्यांकन का दिन है। संबोधन प्राप्त करने वाले व्यक्ति तेरापंथ की कीर्ति पताकाओं को फहराने वाले ऐसे श्रावक/श्राविकाएं हैं जिनकी संघ एवं संघपति के प्रति निष्ठा, समर्पण और श्रद्धा अद्वितीय है। इनकी सेवा भावना, तप और त्याग की विशिष्ट भावना से सिद्ध होता है कि ये एक महान समाज के अंग हैं। हमारी भावी पीढ़ी इनसे प्रेरणा ग्रहण कर इनके पदचिह्नों पर चलकर अपने जीवन को उन्नत करेगी।

महासभा के महामंत्री श्री बिनोद कुमार चोरड़िया ने संबोधन अलंकरण के महत्त्व का उल्लेख किया और कहा कि महान तेरापंथ धर्मसंघ की महान परंपराओं में समाज के निष्ठाशील, संघ तथा संघपति के प्रति समर्पित, तप, त्याग और सेवा भावना से युक्त श्रेष्ठ श्रावक-श्राविकाओं को सम्मानित करने की यह परंपरा महासभा के विभिन्न आयोजनों की शृंखला की एक विशिष्ट कड़ी है।

इस अवसर पर शासनसेवी, तपोनिष्ठ श्रावक, तपोनिष्ठ श्राविका, महादानी श्राविका, श्रद्धानिष्ठ श्रावक, श्रद्धानिष्ठ युवा श्रावक, श्रद्धा की प्रतिमूर्ति, कल्याण मित्र आदि संबोधनों से अलंकृत श्रावक-श्राविकाओं को महासभा के अध्यक्ष श्री हीरालाल मालू, उपाध्यक्ष श्री जी. सुकनराज परमार, श्री किशनलाल डागलिया, श्री विमल सुराणा, महामंत्री श्री बिनोद कुमार चोरड़िया, ट्रस्टी श्री बिमल कुमार नाहटा, श्री संपत लाल मादरेचा, श्री रोशनलाल सांखला, सहमंत्री श्री बजरंग कुमार सेठिया, कोषाध्यक्ष श्री सुरेन्द्र कुमार बोरड़ द्वारा स्मृति-चिह्न प्रदान कर सम्मानित किया गया।

आज के इस कार्यक्रम में महासभा एवं अन्य केंद्रीय संस्थाओं के पदाधिकारीगण के साथ-साथ संबोधन प्राप्त श्रावक-श्राविका एवं पारिवारिकजन लगभग 2000 व्यक्ति उपस्थित थे। संबोधन अलंकरण कार्यक्रम को सफल बनाने में महासभा के कार्यसमिति सदस्य श्री मनोज कुमार सिंघी व सेवा विभाग के संयोजक श्री बाबूलाल सुराणा के अतिरिक्त श्री महेन्द्र बैद एवं श्री बाबूलाल तातेड़ का सहयोग प्राप्त हुआ। कार्यक्रम का संचालन महासभा के कार्यकारिणी सदस्य श्री विमल सिंह बैद ने कुशलतापूर्वक समयबद्धता के साथ किया।

## सम्मान समारोह कार्यक्रम

परम श्रद्धेय आचार्य श्री महाश्रमणजी के पावन सान्निध्य में दिनांक 15 फरवरी, 2013 को महासभा के तत्त्वावधान में सम्मान समारोह का कार्यक्रम आयोजित किया गया, जिसमें सर्वप्रथम वर्ष 2012 का श्रीमती मनोहरी देवी डागा समाज सेवा पुरस्कार पीपलीनगर

निवासी एवं चेन्नई प्रवासी वरिष्ठ कार्यकर्ता एवं समाजसेवी श्री घीसूलाल बोहरा को महासभा के अध्यक्ष श्री हीरालाल मालू, प्रधान न्यासी श्री कमल कुमार दुगड़ एवं श्री बिनोद कुमार चोरड़िया ने स्मृति चिह्न, सम्मान पत्र एवं पुरस्कार राशि का चेक प्रदान किया। कार्यक्रम का संचालन महासभा के सहमंत्री श्री बजरंग कुमार सेठिया ने किया।

कार्यक्रम का संयोजन करते हुए महासभा के उपाध्यक्ष श्री विनोद बैद ने कहा कि देश भर में फैली सभाएं अपने-अपने स्तर पर केंद्र एवं महासभा द्वारा निर्देशित कार्यक्रमों और गतिविधियों को संचालित कर धर्म, अध्यात्म, संस्कृति और समाज सेवा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य कर रही हैं। उनके बीच प्रतिस्पर्धा की भावना विकसित करने के लिए सभाओं द्वारा संचालित प्रवृत्तियों के आधार पर उन्हें श्रेष्ठ सभा और विशिष्ट सभा के रूप में सम्मानित किया जाता है। उन्होंने कहा कि जसोल में आयोजित प्रतिनिधि सम्मेलन के अवसर पर चयनित 11 सभाओं के पदाधिकारियों के साक्षात्कार के उपरांत साउथ कलकत्ता तेरापंथी सभा को श्रेष्ठ सभा एवं सूरत व गदग को विशिष्ट सभा के रूप में घोषित किया गया था। श्रेष्ठ एवं विशिष्ट सभा का मोमेंटो एवं पुरस्कार राशि का चेक महासभा के अध्यक्ष श्री हीरालाल मालू, प्रधान न्यासी श्री कमलकुमार दुगड़ एवं महामंत्री श्री बिनोद कुमार चोरड़िया एवं कस्तूरी देवी चिण्डालिया चैरिटेबल ट्रस्ट की ओर से श्री राजकरन सिरोहिया एवं स्व. बस्तीमल सारीबाई छाजेड़ प्रेरणा पुरस्कार की ओर से चेतना छाजेड़ ने प्रदान किया। तदुपरांत शेष 8 सभाओं के पदाधिकारियों को प्रोत्साहन की दृष्टि से महासभा के अध्यक्ष श्री हीरालाल मालू, उपाध्यक्ष श्री सुकनराज परमार, श्री विमल सुराणा कोषाध्यक्ष श्री सुरेंद्र कुमार बोरड़ द्वारा मोमेंटो प्रदान कर सम्मानित किया गया। श्रेष्ठ सभा का पुरस्कार श्री राजेन्द्र, सुरेन्द्र महेन्द्र बच्छावत, कोलकाता के सौजन्य से स्व. झूमरमल बच्छावत प्रेरणा पुरस्कार के अंतर्गत एवं विशिष्ट सभा का पुरस्कार श्री चैनरूप, आदित्य चिण्डालिया, कोलकाता के सौजन्य से कस्तूरी देवी चिण्डालिया चैरिटेबल ट्रस्ट के अंतर्गत एवं श्री मांगीलाल छाजेड़, बैंगलोर के सौजन्य से स्व. बस्तीमल सारीबाई छाजेड़ प्रेरणा पुरस्कार के अंतर्गत प्रदान किया जाता है, एतदर्थ सभी सौजन्यकर्ता परिवार के प्रति हार्दिक आभार।

सम्मान के क्रम में आचार्यश्री महाश्रमण मर्यादा महोत्सव आयोजन समिति, टापरा एवं संबोधन अलंकरण परिचय पुस्तिका के प्रकाशन में सहयोगी श्री पुखराज परमार को मोमेन्टो प्रदान कर सम्मानित किया गया।

ज्ञानशाला पुरस्कार समारोह कार्यक्रम के अंतर्गत महासभा के अध्यक्ष श्री हीरालाल मालू ने विगत 15 वर्षों पूर्व निष्ठा, लगन एवं समर्पण भाव से अपनी सेवा प्रदान कर रहे राष्ट्रीय संयोजक श्री सोहनराज चोपड़ा, ज्ञानशाला प्रशिक्षक श्री डालिमचंद नौलखा एवं श्री निर्मल नौलखा, सभी संयोजकों, सभाओं, तेरापंथ युवक परिषद, महिला मण्डल, प्रशिक्षकों को साधुवाद दिया जो ज्ञानशाला के संचालन में सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं।

ज्ञानशाला प्रकोष्ठ के राष्ट्रीय संयोजक श्री सोहनराज चौपड़ा ने कहा कि इसके द्वारा समाज के बच्चों को संस्कारित और सुशिक्षित किया जाता है। बचपन से ही बालक-बालिकाओं में चरित्र का विकास, संयम का पाठ, सेवा की शिक्षा और देव, गुरु, धर्म के प्रति निष्ठा जागृत करना इसका मूल उद्देश्य है, क्योंकि सद्संस्कारों से युक्त बच्चे ही अच्छे नागरिक और मानव बन सकते हैं। उनका आचार-व्यवहार, जीवन शैली और सोच जितनी अच्छी होगी हमारा परिवार, समाज और देश उतना ही मजबूत और उन्नत होगा। उन्होंने ज्ञानशाला द्वारा किए जा रहे संस्कार निर्माण के कार्य की सराहना की और श्रेष्ठता अर्जित करने वाली ज्ञानशाला को बधाई दी। श्री सोहनराज चौपड़ा ने कहा कि महासभा अध्यक्ष श्री हीरालाल मालू का ज्ञानशाला से संबंधित सभी कार्य में हर संभव सहयोग प्राप्त होता है एवं वे ज्ञानशाला के प्रति सदैव तत्पर रहते हैं।

इस अवसर पर दक्षिण हावड़ा को श्रेष्ठ ज्ञानशाला, हिमायत नगर, किलपॉक को विशिष्ट ज्ञानशाला,

किशनगंज, रायपुर एवं मरोल विलेज को उत्तम ज्ञानशाला के रूप में पुरस्कृत किया गया। साथ ही ज्ञानशाला सहयोगी, श्रेष्ठ प्रशिक्षक, वरिष्ठ प्रशिक्षक, श्रेष्ठ ज्ञानार्थी, श्रेष्ठ संचालक संस्था एवं विशिष्ट आंचलिक संयोजक को महासभा के अध्यक्ष श्री हीरालाल मालू, ज्ञानशाला पुरस्कार के प्रायोजक श्री बिमल कुमार नाहटा, ज्ञानशाला प्रकोष्ठ के राष्ट्रीय संयोजक श्री सोहनराज चौपड़ा, प्रधान न्यासी श्री कमल कुमार दुगड़, महामंत्री श्री बिनोद कुमार चोरड़िया, उपाध्यक्ष श्री विनोद बैद, ट्रस्टीगण श्री राजकरन सिरोहिया, श्री रोशनलाल सांखला, श्री संपतलाल मादरेचा आदि ने स्मृति चिह्न प्रदान कर सम्मानित किया गया।

आचार्य श्री महाश्रमणजी ने अपना उद्‌बोधन प्रदान करते हुए कहा कि जिनको सम्मान मिलता है वह सुखद अनुभूति कराने वाला क्षण होता है। सम्मान मिलने से उस व्यक्ति का समाज के प्रति दायित्व और बढ़ जाता है। वे सम्मान की गरिमा को जीवन में बनाए रखें तो सम्मान स्वयं सम्मानित होता है।

ज्ञानशाला के प्रभारी संत मुनिश्री उदितकुमारजी ने अपने वक्तव्य में कहा कि ज्ञानशाला का संचालन किसी एक व्यक्ति का काम नहीं है। उन्होंने कहा कि मुनिश्री हिमांशु कुमारजी पूरी सक्रियता से ज्ञानशाला के कार्यों में लगे रहते हैं। श्री डालिमचंदजी नौलखा, श्री निर्मलजी नौलखा एवं सोहनजी चोपड़ा अपनी महत्व-पूर्ण सेवाएं प्रदान कर रहे हैं। उन्होंने ज्ञानशाला को और सशक्त बनाने पर जोर दिया और कहा कि इस उपक्रम में और निखार आए और यह समाज कल्याण के साथ आगे बढ़े।

कार्यक्रम का कुशल संचालन महासभा के सहमंत्री श्री बजरंग कुमार सेठिया ने सफलतापूर्वक समयबद्धता के साथ किया। कार्यक्रम को सफल बनाने में महासभा के कार्यसमिति सदस्य श्री डूंगरचंद सालेचा, श्री मनोज कुमार सिंघी, श्री विमल सिंह बैद, सेवा विभाग के संयोजक श्री बाबूलाल सुराणा के अतिरिक्त श्री महेंद्र बैद का सहयोग प्राप्त हुआ।

## महासभा की 99वीं वार्षिक साधारण सभा

महासभा की 99वीं वार्षिक साधारण सभा दिनांक 16 फरवरी 2013 को सायं 6.30 बजे आचार्य श्री महाश्रमण प्रवास स्थल, टापरा में आयोजित की गई। महासभा के अध्यक्ष श्री हीरालाल मालू ने अध्यक्षीय अभिभाषण में आगंतुक महानुभावों का स्वागत करते हुए विगत वर्ष की विशेष उपलब्धियों की जानकारी दी।

सहमंत्री श्री बजरंग कुमार सेठिया ने विगत अधिवेशन की कार्यवाही का वाचन किया जिसे सर्वसम्मति से स्वीकृत किया गया।

महामंत्री श्री बिनोद कुमार चोरड़िया ने वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसे सर्वसम्मति से स्वीकृत किया गया। कोषाध्यक्ष श्री सुरेन्द्र कुमार बोरड़ ने विगत वर्ष के आय-व्यय का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया, जिसे सदन द्वारा सर्वसम्मति से पारित किया गया।

प्रधान न्यासी श्री कमल कुमार दुगड़ ने आचार्य महाप्रज्ञ स्मारक स्थल एवं महासभा शताब्दी वर्ष से संबंधित कार्यों की जानकारी प्रदान की। आगामी वर्ष हेतु अंकेक्षक के रूप में मैसर्स एस. एम. डागा एण्ड कंपनी की पुनर्नियुक्ति की गई एवं उनकी मानद सेवाओं हेतु उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापित किया गया।

इस अवसर पर श्री सवाईलाल पोखरणा, श्री नरेन्द्र दुगड़, श्री विनोद बांठिया, श्री धनराज बैद, गौतम डागा, कोठारी सहित अनेक महानुभावों ने अपने सुझाव एवं विचार प्रस्तुत किए।

वार्षिक सभा का संयोजन महासभा के सहमंत्री श्री जी. भूपेन्द्र मुथा द्वारा कुशलतापूर्वक किया गया। आभार ज्ञापन महासभा के उपाध्यक्ष श्री विमल सुराणा ने किया। (संक्षिप्त रिपोर्ट) ❑



बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता–1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

उठो, जागो और लक्ष्य तक मत रुको
—स्वामी विवेकानंद

**NIRMAL CHORDIA**
**RISHI CHORDIA**

Omega™
AN ISO 9001 COMPANY
* HOT PRESSED
* ECO-FRIENDLY
* TERMITE RESISTANT
* A QUALITY PRODUCT
THE QUALITY CONSISTENT PLYWOOD

AN ISO 9001 : 2000 CERTIFIED COMPANY
WOOD SHINE™
PLY & BOARD
Termite Resistant
Heat Resistant
Fungus Resistant
Borer Free
Life time Guarantee
A QUALITY PRODUCT

KUBER PLY
TERMITE RESISTANT
WATER PROOF
PRESERVATIVE TREATED
PHENOL BONDED (BWP GRADE)
100% BOILING WATER PROOF

PP

# PLY PORT

*Wholesale & Retail*

**Dealers in :**

Plywoods, Timber and Allied Products

**REGD. OFF. :**

No. 59, Choolai High Road
Choolai, Chennai 600112
Phone : 044-25387087, 42825736
Cell : 9381008335

**SHOW ROOM**

No. 134/1, Choolai High Road
Chennai 600112
Phone : 044-26693241, 42825046
Cell : 9840035641



ACHARYA SRI KAILASSAGARSURI GYANMANDIR
SRI MAHAVIR JAIN ARADHANA KENDRA
Koba, Gandhinagar-382 009
Phone : (079) 23276252, 23276204-05

जैन भारती, अप्रैल, 2013 ■ प्रेषण दिनांक 28 मार्च, 2013
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2012-2014

शासनसेवी बुद्धमल दुगड़
सुरेन्द्रकुमार, तुलसीकुमार, कमलकुमार दुगड़
(कल्याण मित्र दुगड़ परिवार)

के.बी.डी. फाउण्डेशन
बुद्धमल सुरेन्द्र दुगड़ फाउण्डेशन
बुद्धमल तुलसी दुगड़ फाउण्डेशन
बीएमडी कमल दुगड़ फाउण्डेशन

201/504, वैष्णो चेंबर, 6, बेब्रॉर्न रोड, कोलकाता 700001
फोन : 22254103/4889

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।